ISSN : 2231-0509

वर्ष 20/अंक 3/मई-जून, 2018

# शिक्षा विमर्श

शैक्षिक चिंतन एवं संवाद की पत्रिका

# शिक्षा विमर्श

शैक्षिक चिंतन एवं संवाद की पत्रिका

वर्ष 20/अंक 3/मई-जून, 2018

**प्रधान संपादक** रोहित धनकर
**संपादक** प्रमोद
**प्रबंधक** रीना दास
**कला पक्ष** रामकिशन अडिग
**कम्प्यूटर/प्रसार प्रबंधन** ख्यालीराम स्वामी

### संपर्क

**शिक्षा विमर्श**
दिगन्तर, खो नागोरियान रोड,
जगतपुरा, जयपुर-302017 राजस्थान
फोन : (0141) 2750310
मोबाईल नं. 9214181380 (प्रसार प्रबंधक)
ई मेलः shikshavimarsh@digantar.org
वेबसाइटः www.digantar.org

### सदस्यता राशि

| | व्यक्तिगत | संस्थागत |
|---|---|---|
| एक प्रति | 55 | 80 |
| **वार्षिक** | **300** | **450** |
| द्वि-वर्षीय | 550 | 850 |
| तीन-वर्षीय | 750 | 1200 |
| आजीवन | 3000 | 4500 |

(रजिस्टर्ड डाक से मंगवाने के लिए प्रतिवर्ष 100 रुपये अतिरिक्त भिजवाएं)

ऑनलाईन राशि भेजने के लिए www.digantar.org देखें

**'शिक्षा विमर्श' के लिए सभी भुगतान 'दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर' (Digantar Shiksha Evam Khelkud Samiti, Jaipur) के नाम देय मनीऑर्डर, डिमांड ड्राफ्ट अथवा चैक द्वारा किया जाए।**

इस पत्रिका में व्यक्त विचार लेखकों के हैं।
दिगन्तर की इन विचारों से सहमति हो यह जरूरी नहीं है।

## अनुक्रम

### संपादकीय

**पाठ्यक्रम चौपाल की सामग्री नहीं होती** 3
❑ प्रमोद

### शिक्षा का समाजशास्त्र

**शिक्षा के समाजशास्त्रीय सिद्धांत-III** 5
**संघर्ष के सिद्धांत - मार्क्सवाद**
❑ अमन मदान

**सार्वजनिक शिक्षा और दलित लड़कियां** 11
❑ संदीप कुमार मील

**परीक्षा परिणामों में व्याप्त पूर्वाग्रह** 20
❑ ऋषभ कुमार मिश्र

### मीमांसा

**ज्ञानोदय और शिक्षा की भारतीय अवधारणा** 24
❑ राजाराम भादू

### अध्ययन

**स्कूलों की भाषा में जेंडर** 29
❑ आलोक कुमार मिश्रा

### अनुभव

**बच्चों के साथ बातचीत** 34
❑ रोहित धनकर

**अपने आस-पास के पक्षियों का अध्ययन** 42
❑ कालू राम शर्मा

**मुख्य आवरण चित्र :** चित्रकार मूर्तिकार, शशिकांत चार्बे की कृति (पृष्ठ 10 पर पढ़ें)।
**अंतिम आवरण चित्र :** चूरू में एक चित्रकला कार्यशाला में बच्चों द्वारा बनाए गए चित्र

दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर के लिए सुश्री रीना दास
द्वारा भालोटिया प्रिन्टर्स, 1/398 पारीक कॉलेज रोड, जयपुर-302006 से मुद्रित
एवं दिगन्तर, खो नागोरियान रोड, जगतपुरा, जयपुर-302017 से प्रकाशित

# पाठ्यक्रम चौपाल की सामग्री नहीं होती

''राजस्थान के प्राथमिक व माध्यमिक स्कूल शिक्षा मंत्री वासुदेव देवनानी ने कहा कि राजस्थान में अगले शैक्षणिक सत्र में भगवान परशुराम के बारे में एक अध्याय जोड़ा जायेगा और उनकी जीवनी को पुस्तकालय में रखा जायेगा। अजमेर में भगवान परशुराम के जन्मदिवस पर आयोजित एक समारोह को सम्बोधित करते हुए देवनानी ने कहा कि भगवान परशुराम के बारे में एक अध्याय को जोड़ने की प्रक्रिया इसी साल शुरू की जायेगी और अगले शैक्षणिक सत्र से स्कूली शिक्षा पाठ्यक्रम में इसे जोड़ दिया जायेगा।''[1]

''मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री शिवराज सिंह चौहान ने 'पद्मावती' को राज्य की स्कूली किताबों के पाठ्यक्रम में शामिल करने की घोषणा कर तो दी, लेकिन इस लिस्ट में पहले से ही शंकराचार्य, राजा छत्रसाल, झलकारी बाई जैसी महान हस्तियां हैं।''[2]

इस तरह की खबरें शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वालों के लिए चौंकाने से ज्यादा चिंता पैदा करने वाली हैं। क्योंकि पाठ्यक्रम में क्या जोड़ा जाए और क्या हटाया जाए इसका फैसला जनभावना के आधार पर किसी सार्वजनिक सभा में घोषणा करके नहीं किया जा सकता। पाठ्यक्रम में किसी अध्याय के जुड़ने, ना जुड़ने संबंधी निर्णय से पहले हमें इस सवाल का जवाब ढूंढ़ना होगा कि किसी पाठ को पाठ्यक्रम में जोड़ने का आधार क्या है? इस सवाल का जवाब कम से कम जनभावना तो नहीं हो सकता इतना तय है। इसका जवाब देने के लिए हमें कुछ और सवाल करने होंगे। मसलन-

1. समाज को लेकर हमारी आकांक्षाएं क्या हैं?
2. ज्ञान मीमांसीय आधार क्या है?
3. सीखने के बारे में धारणाएं क्या हैं?
4. बच्चे का परिवेश क्या है?

पहला सवाल हमें यह तय करने में मदद करता है कि जिस पाठ या विषयवस्तु को हम पाठ्यक्रम में जोड़ना चाहते हैं क्या वह हम जिस मानवीय समाज की आकांक्षा संजोए हैं उससे तालमेल रखती है। यहां समाज की आकांक्षा से आशय है कि हम किस तरह की सामाजिक-राजनैतिक चेतना से लैस समाज की उम्मीद संजोते हैं और उस चेतना को हासिल करने के लिए किस तरह के मूल्य व क्षमताएं मनुष्य में होनी जरूरी समझते हैं। इन्हें हम शिक्षा के हमारे व्यापक लक्ष्यों के रूप में भी रख सकते हैं। चूंकि हम एक लोकतांत्रिक समाज हैं ऐसे में शिक्षा के लक्ष्य कुछ इस तरह के हो सकते हैं -

- ☐ लोकतांत्रिक मूल्यों (जैसे- बराबरी, न्याय इत्यादि) के विकास में मददगार होना।
- ☐ आज के मानवीय समाज में जीवन यापन करने के लिए आवश्यक क्षमताओं व कौशलों के विकास में मददगार होना।

दूसरा सवाल हमें ज्ञान की प्रकृति की ओर ले जाता है कि दरअसल मानवीय ज्ञान में विविध दायरों का निर्धारण किस तरह होता है। विभिन्न दार्शनिकों ने मानवीय ज्ञान को कुछ मोटे दायरों में विभाजित किया है। यह दायरे इससे तय होते हैं कि ज्ञान के किसी खास दायरे में ज्ञान का सृजन व ज्ञान के सत्यासत्य का निर्धारण कैसे होता है (मोटे तौर पर ये दायरे हैं- गणित, प्राकृतिक विज्ञान, सामाजिक विज्ञान, इतिहास, नीतिशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र, दर्शन शास्त्र। भाषा इन सबके लिए एक आधार का काम करती है इसलिए उसे

इनमें शामिल करने के बजाए इनके लिए आधारभूत शर्त के तौर पर मान सकते हैं)। मसलन- पानी को लेकर कविता जिस तरह के रूपक गढ़ती है विज्ञान पानी को वैसे नहीं देखती। विज्ञान के लिए पानी एक पदार्थ है और उसे वह उसी नज़र से देखती है। कविता की सराहना के जो मानदंड हैं वे विज्ञान में ज्ञान सृजन या ज्ञान के सत्यासत्य के निर्धारण के मानदंड नहीं हैं। कुल मिलाकर यह सवाल हमें ज्ञान के दायरों के आधार पर विषयों का निर्धारण करने में मददगार होता है। बच्चों को ज्ञान के पुनर्सृजन में भागीदारी करते हुए ज्ञान के किसी खास दायरे में कैसे ज्ञान सृजन होता है यह सीखना होता है तभी यह उम्मीद की जा सकती है कि वे आगे चलकर मानवीय ज्ञान के विभिन्न दायरों में नया ज्ञान सृजित करने की काबिलियत विकसित कर पाएं व नया ज्ञान सृजित कर पाएं। अतः विषयों व विषयवस्तु का चयन करते समय यह ध्यान रखा जाए कि वे मानवीय ज्ञान के व्यापक दायरों का प्रतिनिधित्व करते हों।

तीसरा सवाल हमें सीखने की मनोवैज्ञानिक धारणाओं से मिलता है। यह हमें यह समझने में मदद करता है कि दरअसल सीखना क्या होता है और उम्र के किस पड़ाव पर किस तरह से सीखना होता है। बच्चे जब स्कूल में आते हैं तो उनके पास अपना एक ज्ञान आधार होता है, अपनी भाषा होती है, उनकी रुचियां होती हैं। भाषाई ज्ञान व इस दुनिया से अन्तर्क्रिया सीखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। उम्र के किस दौर में किस तरह का अमूर्तन संभव है यह बात हमें हमारे सीखने-सिखाने के तौर-तरीके व पाठ्यसामग्री (जिसमें से पाठ्यपुस्तक भी एक है) विकसित करने में मददगार होती हैं। इसी आधार पर हम तय कर पाते हैं कि छोटे बच्चों को गणित में संख्या की अवधारणा विकसित करने में मदद करने के लिए ठोस चीजों का उपयोग किया जाना चाहिए। बच्चों की पाठ्यपुस्तकों में चित्र होने चाहिए, उनकी पाठ्यपुस्तकों में अन्तर्क्रिया संभव बनाने वाले अभ्यास होने चाहिए और ऐसी विषयवस्तु का चयन होना चाहिए जो उनकी रुचि की हो। इसी आधार पर हम विषयों की शुरुआत कक्षाओं के स्तर के हिसाब से कर पाते हैं। आरंभ में विषय के तौर पर भाषा एवं गणित को रखते हैं और अन्य विषयों से संबंधित गतिविधियों को इन्हीं के अंतर्गत रखते हैं। प्राथमिक स्तर पर विज्ञान व सामाजिक विज्ञान को एक मोटे दायरे के रूप में पर्यावरण अध्ययन के अन्तर्गत रखते हैं और उच्च प्राथमिक स्तर पर ठीक से विषयों के तौर पर विभाजन करते हैं।

चौथा सवाल बच्चे के प्राकृतिक एवं सामाजिक परिवेश के बारे में सचेत रहने के बारे में है। यह हमें बताता है कि नया सीखना-सिखाना बच्चे के मौजूदा भाषाई क्षमताओं एवं ज्ञान व कौशलों के मौजूदा स्तर को ध्यान में रख कर व इनसे जोड़ते हुए किया जाना चाहिए। हमें विभिन्न विषयों की पाठ्य सामग्री में किन मुद्दों का चयन करना है इसका निर्धारण बच्चे के परिवेश को ध्यान में रखते हुए किया जाना चाहिए साथ ही उसका ज्ञान मीमांसा के आधार व शिक्षा के लक्ष्यों के साथ तालमेल भी होना चाहिए। यानी उसे मानवीय ज्ञान के व्यापक दायरों का प्रतिनिधित्व करना चाहिए व शिक्षा के लक्ष्यों के साथ उसका तालमेल होना चाहिए।

सवाल यह है कि उक्त दोनों खबरों में जिन पाठों (परशुराम व पद्मावती) को पाठ्यक्रम में शामिल करने की बात कही गई है क्या वे हमारे इन चारों सवालों को जवाब दे पाते हैं? हम परशुराम के उदाहरण से समझने की कोशिश करते हैं। परशुराम की जीवनी ज्ञान के किस दायरे में आएगी? जीवनी कल्पना के आधार पर नहीं तथ्यों के आधार पर लिखी जाती है। क्या परशुराम की जीवनी के संदर्भ में यह संभव है? उसके लिए तथ्य कहां से जुटाएंगे? आज परशुराम के बारे में जितनी बातें प्रचलित हैं वे केवल लोक में प्रचलित बाते हैं उनके लिए तथ्य जुटाना संभव नहीं है। परशुराम का अध्ययन एक मिथक के तौर पर तो किया जा सकता है लेकिन एक जीवनी के तौर पर मुमकिन नहीं। मिथक का अध्ययन स्कूली स्तर पर संभव नहीं। इसके लिए जो ज्ञान आधार चाहिए वह विश्वविद्यालय स्तर पर पहुंचने के बाद ही संभव है। दूसरा परशुराम के बारे में जो लोक मान्यताएं हैं क्या वे बराबरी व न्याय का जो लक्ष्य है उससे संगति रखती है? यही सवाल पद्मावती के बारे में भी पूछे जा सकते हैं। हम देख सकते हैं कि पाठ्यक्रम निर्माण कोई चौपाल पर की जाने वाली गप्प-गोष्ठी नहीं होती है। इसे तय करने के कुछ निर्धारित मानदंड व प्रक्रियाएं हैं। ◆

प्रमोद

---

1. https://khabar.ndtv.com/news/career/life-of-sage-parashuram-to-be-part-of-school-syllabus-1687408
2. https://khabar.ndtv.com/news/india/mp-big-challenge-to-include-padmavati-in-the-course-many-greatmen-in-pre-waiting-1781043

# शिक्षा के सामाजशास्त्रीय सिद्धांत-III

## संघर्ष के सिद्धांत - मार्क्सवाद

अमन मदान
अनुवाद : मनोज कुमार झा

शिक्षा के साथ समाज के संबंध को समझने का फंक्शनलिस्ट दृष्टिकोण, खासकर किसी समाज अथवा संस्था की संभावित जरूरतों की बात करता है। यह जानना चाहता है कि किसी समाज के विभिन्न अंगों के बीच सौहार्द बनाने तथा उनकी अपेक्षाओं को पूरा करने लिए कैसी शिक्षा चाहिए। समाज तथा शिक्षा के बीच संबंध को देखने का यह एक सार्थक तरीका है, लेकिन कई लोगों के लिए यह अपूर्ण और तस्वीर के एक अहम हिस्से को नजरअंदाज करने वाला है। आज भारत के स्कूलों और कालेजों की ओर देखने पर हम यह कहने में कठिनाई महसूस करते हैं कि फंक्शनल जरूरतें किसी तरह भी पूरी हो रही हैं। यदि ऐसा होता, तो फिर हर जगह से तीखी शिकायतों का हो-हल्ला क्यों मचता। हमारे स्कूलों में से अनेक जिस भयानक स्वरूप में है तथा वहां से शिक्षा ग्रहण कर निकले लोगों के बीच घोर अज्ञानता एवं शिक्षा के अभाव की जो भयावह स्थिति है वह सवाल उठाती है कि कैसे कोई भारतीय शिक्षा व्यवस्था को फंक्शनल कह सकता है। पहले हम अंग्रेजों को दोष देते थे। लेकिन उनके देश छोड़ने के सत्तर सालों के बाद भी ऐसा क्यो है कि हमारी शिक्षा व्यवस्था में अभी भी बहुत सीमित क्षेत्र हैं, जिनमें शिक्षा ठीक और कुछ अच्छा करती प्रतीत होती है। कुछ फंक्शनलिस्ट कहते हैं कि स्कूलों में कम संख्या में छात्रों को भेजने तथा इससे भी कम संख्या में छात्रों को कारगर कालेज शिक्षा उपलब्ध करवाने वाली शिक्षा व्यवस्था वास्तव में हमारे समाज के लिए फंक्शनल है। यदि समाज के पास बहुत से शिक्षित युवाओं के लिए रोजगार नहीं है, तो इनकी बड़ी संख्या पैदा करना अनुपयोगी होगा। लेकिन जो बाहर छूट गये हैं तथा वे जो भयानक रूप से उबाऊ कक्षाओं को झेलते हैं, सवाल उठाते हैं कि यह किसके लिये फंक्शनल है? निश्चय ही यह उस सुरेश के लिए फंक्शनल नहीं है, जिसने बीए किया है और जो पूरे दिन एक दुकान में सहायक के तौर पर काम करता है। जो कुछ उसने हिन्दी साहित्य की मोहक कक्षाओं में पढ़ा है, उसका यहां कोई उपयोग नहीं है। रेहाना अपनी छोटी फैक्ट्री के लिए वेल्डर और मैकेनिक रखती है और वह बहुत नाखुश है कि इन लोगों के पास सामान्य गणना की इतनी क्षमता भी नहीं है कि पता कर सकें कि क्या एक साथ फिट बैठेगा और क्या नहीं। वह भी नहीं मानती कि शिक्षा व्यवस्था उसकी जरूरतों के लिए फंक्शनल है।

शिक्षा प्रणाली के प्रति इस असंतोष समूह और खिन्नता को समझने के लिए सिद्धांतों का एक अलग समूह उभरा। फंक्शनलिस्टों के विपरीत ये दृष्टिकोण कहते हैं कि विभिन्न समूहों के बीच संघर्ष के कारण समाज ऐसा है। शक्तिशाली समूहों का एजेंडा, दूसरे समूह क्या चाहत रखते हैं, इस पर भारी पड़ता है। संघर्ष के सिद्धांतकार कहते हैं कि अनेक बच्चे खराब स्कूलों में कमजोर होते जाते हैं क्योंकि भारत में प्रभावशाली व ताकतवर लोग स्कूली शिक्षा में सुधार के लिए दिल से इच्छा नहीं रखते। ताकतवर लोग शिक्षा प्रणाली में पैसा लगाने की बजाय तेज रफ्तार में कार दौड़ाने के लिए सुपर-हाईवे बनाने में सरकारी पैसा खर्च करवाने में ज्यादा रुचि दिखाते हैं। उनकी ज्यादा दिलचस्पी छोटे-छोटे तकनीकी प्रशिक्षण संस्थान स्थापित करने में

है, जो फैक्ट्रियों के लिए मजदूर मुहैया करा सकते हैं, बजाय एक ऐसी शिक्षा प्रणाली विकसित करने में, जो लोगों को सशक्त बना सके तथा अपने बारे में सोचने के लिए शिक्षित कर सके। संघर्ष के दृष्टिकोण बताते हैं कि हमारी शिक्षा व्यवस्था की यह स्थिति विभिन्न सामाजिक समूहों के बीच संघर्ष और उनकी संबंधित संस्कृतियों व कार्य सूचियों के बीच रस्साकसी के कारण है।

ऐसी कई सैद्धांतिक परंपराएं उभरी हैं, जो समाज में संघर्ष पर विचार करती हैं। हम यहां पहले मार्क्सवादी परंपरा के बारे में बात करेंगे और फिर देखेंगे कि भारतीय शिक्षा की समस्याओं की हमारी समझ नव-मार्क्सवादी और वेबरवादी दृष्टिकोणों के जरिए कैसे बेहतर की जा सकती है। चूंकि संस्कृतियों तथा हितों के टकराव इतने स्पष्ट हैं कि कई बार लोग निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि फंक्शनलिज्म बिलकुल निरर्थक है। हमारे आस-पास इतना ज्यादा संघर्ष और कलह है कि वे सहज ही फंक्शनलिस्टों के इरादे पर संदेह करना शुरू कर देते हैं। संभव है फंक्शनलिस्ट महज सत्ताधारियों को प्रसन्न रखने के लिए मासूम छात्रों की आंखों में धूल झोकने के लिए बकवास कर रहे हों। मैं स्वीकार करता हूं कि समाजशास्त्र तथा सामाजिक मानव विज्ञान के अपने अध्ययन के पहले कुछ सालों में मैं भीं यही सोचता था। अब मैं महसूस करता हूं कि सचमुच फंक्शनलिस्टों से काफी कुछ अहम सीखने को है। खासतौर पर यह पूछना कि किसी समाज को आगे बढ़ने और उसके साथ न्याय के लिए क्या आवश्यकताएं होती हैं। फिर भी यह अधूरा है क्योंकि हमें यह भी जानने की आवश्यकता है कि हमारे देश में न्याय व खुशहाली के रास्ते की बाधाएं क्या है।

## मार्क्सवादी सिद्धांत व शिक्षा

कार्ल मार्क्स के लेखन ने शिक्षा के अवलोकन हेतु एक सशक्त और प्रभावशाली दृष्टिकोण को प्रेरित किया है। मार्क्स ने कहा है कि हमारी शिक्षा व संस्कृति किसी ईश्वर- सरीखे स्रोत से नहीं आयी है, जिसने इसे अंतिम, परिपूर्ण स्वरूप में हमें सौंपा हो। इसके विपरित, हम मनुष्यों ने अपनी समस्याओं से जूझते हुए तथा उन समस्याओं के समाधान की कोशिश हेतु ज्ञान का विकास करते हुए अपनी अवधारणाओं तथा संस्कृति को स्वयं रचा है। उसने कहा है कि प्रारंभिक मानवों ने जीवित रहने तथा अपने लिए जीवन को आसान बनाने के लिए आदिम किस्म के हथियार विकसित किये, एक ऐसे वातावरण में जहां वे प्रतिकूल तत्वों से घिरे थे। ये हथियार भौतिक या यथार्थ-मूलक के साथ-साथ मानसिक भी थे। मनुष्यों के पास बाघ जैसे पंजे अथवा हाथी सरीखी मांसपेशियां नहीं थीं। इसकी जगह, हमने एक संस्कृति विकसित की, जहां हमने परस्पर संपर्क और सहयोग करना सीखा। एक साथ मिलकर काम करने और धीरे-धीरे अपने भौतिक परिवेश को बदलते हुए हमने आगे बढ़ना शुरू किया। मानवों ने अपने बच्चों को भी यह संस्कृति सिखायी ताकि वे उन पीड़ा और कठिनाइयों से बच सकें, जिसे पूर्व की पीढ़ियों ने भुगता था। हमारी संतानें उन मानसिक व भौतिक औजारों में उत्तरोत्तर परिवर्धन करते हुए उन्हें फिर अपनी संतानों को सिखाती गई।

ज्ञान कभी भी अंतिम और संपूर्ण नहीं था। एक समय में, जब मानव पहले जंगल साफ करके भूमि हासिल करना चाहते थे, जिसमें वे बीज बो सकें, तब उनके पास पर्यावरणीय संरक्षण का विचार या उसकी समझ नहीं थी। जब उन्होंने बाढ़ और भूमिक्षरण आदि के नतीजों को महसूस करना शुरू किया, केवल तभी लोगों ने पर्यावरण के बारे में सोचना समझना शुरू किया। कई बार हम वह सबक भी भूल जाते हैं, जिसे हमने बड़ी कीमत पर सीखा होता है और फिर से उसे सीखना पड़ता है। हमने अपना जीवन जीने के लिए क्या किया, इसके बारे में बात करने के लिए मार्क्स ने एक शब्द ''प्रैक्सिस'' (praxis) का प्रयोग किया है। प्रैक्सिस से उसका तात्पर्य उन क्रियाकलापों से था, जो अवधारणाओं तथा ज्ञान द्वारा संचालित थे। हमारे अनुभवों और क्रियाकलापों ने हमें अपने ज्ञान के अर्जन को प्रेरित किया। और हमारे ज्ञान ने हमारे क्रियाकलापों को निर्देशित किया, फिर नये अनुभवों ने हमारे ज्ञान को पुनर्गठित किया और यह श्रृंखला चलती रही। विभिन्न तत्वों के बीच यह निरंतर अंतःक्रिया, जिसने पूर्णतया एक नया स्वरूप रचने के लिए दोनों तत्वों को बदल दिया, को मार्क्स ने ''द्वंद्वात्मकता'' (dialectics) कहा था।

ज्ञान अपनी प्रकृति में इतिहास-मूलक था। स्कूली विषय हमेशा से नहीं थे बल्कि इतिहास के निश्चित काल में कुछ अनुभवों तथा नाकामियों और उन नाकामियों से मिली सीखों के जरिए प्रकट हुए थे। उदाहरण के लिए, जब कुछ समुदायों के लोग दूर की जगहों के लिए नियमित यात्रा करने लगे, उन्होंने भूगोल नामक व्यवस्थित अध्ययन का सृजन किया। इस तरह की व्यवस्थित जानकारियों ने उन लोगों को बहुत लाभ पहुंचाया, जो ढेर सारा धन पाना अथवा नये क्षेत्रों पर जीत हासिल करना चाहते थे। यही भूगोल स्कूलों एवं विश्वविद्यालयों में भी पढ़ाया जाने लगा। इस दौर से पहले, स्कूलों में बच्चों को पढ़ाने के लिए भूगोल एक विषय के तौर पर नहीं था। बाद में भूगोल के नये संस्करण उभरने लगे। बहुत से लोगों की दिलचस्पी युद्ध अभियान के लिए किसी क्षेत्र के मापन में नहीं रह गई थी। बजाय इसके उनकी रुचि यह जानने में थी कि आखिर क्यों किसी देश के कुछ हिस्से गरीब और दूसरे हिस्सें समृद्ध थे। उनकी दिलचस्पी यह जानने में थी कि जलवायु क्यों बदल रही है और क्यों कुछ स्थानों पर सूखा है और कुछ स्थानों में बाढ़। ये बदलाव नये संदर्भों के प्रकट होने तथा ये उन संदर्भों के साथ लोगों की अंतःक्रिया से सामने आये।

मार्क्स के विवेचन में एक केन्द्रीय विचार था कि विभिन्न घटकों के बीच अंतःक्रिया एवं संघर्ष हमेशा  था। वह मानता था कि हमारा जीवन हमेशा से द्वन्द और संघर्ष से भरा था। यह हमेशा एक बुरी शै नहीं थी, क्योंकि यह प्रयत्न ही था जिसने नयी धारणाएं और काम करने के नये तरीकों के विकास के लिए हमें प्रेरित किया। यह ठंड के साथ संघर्ष था, जिसने गर्म कपड़े बनाने और गर्मी पैदा करने को प्रेरित किया। जैसे-जैसे समाज अधिक जटिल बनते गये, सामाजिक समूहों के बीच द्वंद्व उभरते गये। इसने देखने और काम करने के अलग- अलग तरीकों के लिए प्रेरित किया। इस परस्पर विरोध का असर स्कूलों में क्या होता है उस पर भी पड़ा।

मार्क्स ने गहरी जड़ों वाले कारणों से जन्म लिए संघर्षों को ''अंतर्विरोध'' कहा। वह मानता था कि पूरी प्रकृति के साथ-साथ मानव समाज के भीतर भी कुछ बुनियादी अंतर्विरोध थे। अंतर्विरोधों को लेकर संघर्षों ने समाज को गतिशील तथा सतत परिवर्तनीय होना सिखाया। मार्क्स की विशेष दिलचस्पी श्रम संसार में उभरे अंतर्विरोधों में थी। किसी दुकान अथवा फैक्ट्री मालिकों तथा उनके लिए काम करने वालों के बीच तनाव व हितों को लेकर मतभेद था। अंतर्विरोध यह था कि जब केवल कुछ लोगों के पास संसाधन थे तथा अन्य के पास उनके लिए काम करने के अलावा कोई विकल्प नहीं था, मालिक लोग बाकियों पर अनुचित दबाव डालते थे। जो उत्पादन के साधनों के स्वामी थे और वे जिनके पास उनकी देह के सिवाय उत्पादन के साधन नहीं थे, के बीच के अंतरों ने समाज में विभिन्न वर्गों के उभार को प्रेरित किया। किस तरह से वर्ग उभरे तथा विभिन्न वर्गों के बीच संबंधों की समझ के विभिन्न तरीकों पर एक पूर्ववर्ती आलेख में विचार किया जा चुका है, जहां हमने देखा कि कैसे वर्गीय ढांचे से शिक्षा प्रभावित हुई।

शिक्षा तक में मार्क्सवादी दृष्टिकोण के केन्द्र में यह विचार है कि भिन्न सामाजिक समूह हैं (खासकर वर्ग) तथा उनके अलग- अलग अनुभवों ने भिन्न तरह की संस्कृतियों और ज्ञान के विकास को प्रेरित किया। संस्कृतियों के बीच के अंतर्विरोधों ने बिल्कुल अलग किस्म की संस्कृतियों तथा परिप्रेक्ष्यों का निर्माण किया। उदाहरण के लिए, श्रमिक, जिन्होंने मालिकों द्वारा शोषित महसूस किया है वे संदेह का एक  रवैया विकसित कर सकते हैं और मानने लग सकते हैं कि मालिक और प्रबंधक उनके मरने तक उनसे श्रम कराना चाहते हैं। प्रबंधकों और मालिकों, जिन्होंने श्रमिकों से सहयोग प्राप्त करना कठिन पाया, शायद यह विश्वास करने लगें कि कठोर परिश्रम करना नैतिक रूप से अच्छा है और ये श्रमिक आध्यात्मिक रूप से भ्रष्ट हैं, जो महज अलसियाना चाहते हैं।

मार्क्स ने संभवतः जिसे वर्गीय चेतना कहा है, उसके ये कुछ उदाहरण थे। लोगों द्वारा उनके प्रयत्नों के जरिए सृजित होने के नाते ज्ञान विश्वव्यापी और कालनिरपेक्ष नहीं था। संघर्षों को लेकर विभिन्न वर्गों का अनुभव और नजरिया भिन्न था, अतः उनके पास अलग-अलग तरह के ज्ञान थे। मार्क्स का विश्वास था कि समाजों और स्कूलों के पास ऐसा ज्ञान नहीं है, जो सर्वत्र सही हो। इसकी जगह उनके पास जो ज्ञान था वह विशिष्ट वर्गों का उत्पाद था और कौन सी जानकारी सही और कौन गलत है, इसे लेकर विभिन्न वर्गों के बीच संघर्ष था। मार्क्स ने कहा कि मालिकों

ने श्रमिकों के बीच ''झूठी चेतना'' (फाल्स कन्शसनेस) फैलाने के प्रयत्न किये, जहां श्रमिकों ने मानना शुरू कर दिया कि जो कुछ मालिकों के लिए अच्छा है, उनके लिए भी अच्छा है। मालिकों की मान्यताएं, मूल्य, और ज्ञान स्वयं श्रमिकों द्वारा सत्य और सही समझी गयीं। इसे झूठा (फाल्स)  कहा गया क्योंकि यह तभी हो सका जब श्रमिकों ने अपने अनुभवों तथा अपने तार्किक निहितार्थों की अनदेखी की।

मार्क्स ने खुद स्कूलों और शिक्षा को लेकर बहुत नहीं लिखा। फिर भी, उनसे प्रेरित अनेक लोगों ने, स्कूलों में क्या होता है, को लकर व्यापक अध्ययन मनन किया। जिस ढंग से वे स्कूलों को देखते थे, उनका जो परिप्रेक्ष्य वर्गों और विभन्न सामाजिक समूहों के बीच संघर्ष को रेखांकित करता है तथा पड़ताल करता है कि कैसे स्कूल एक ऐसी जगह है, जहां भिन्न तरह की चेतनाओं के बीच एक द्वंद्व है और जहां ताकतवर एक ऐसी चेतना के निर्माण का प्रयास करते हैं, जो उनके अनुकूल है।

## वर्चस्व, संस्कृति एवं बुद्धिजीवी

अंतोनियो ग्राम्शी (1891-1937) इटली का एक वामपंथी नेता था, जिसने संस्कृति और शिक्षा पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण को लेकर उल्लेखनीय काम किया। वह इटली के फासीवादी शासक बेनिटो मुसोलिनी के विरोध में सक्रिय था, और उसे कई सालों तक मुसोलिनी द्वारा जेल में रखा गया था। जेल से रिहा होने के बाद जल्दी ही उसकी मृत्यु हो गयी थी। जेल में ग्राम्शी ने अपने विचार कुछ नोटबुकों में लिखे जिन्हें छुपाकर बाहर लाया गया। इन नोटबुकों ने हमारी संस्कृति और उसमें होने वाली राजनीति की समझ के विकास में बहुत योगदान दिया है। ग्राम्शी ने अपने देश में आस-पास की गरीबी और किस तरह राजनीतिज्ञों, बड़े भूस्वामियों एवं उद्योगपतियों ने जनता को छला था, उसको स्वयं देखा था। वह इस बात से परेशान था कि लोग एक स्पष्ट तौर पर दिख रही निरंकुश सरकार व नाजायज सामाजिक व्यवस्था का विरोध क्यों नहीं करते, उसके विरुद्ध खड़े क्यों नहीं होते। जैसी स्थितियां थीं, जनता ने उसे स्वीकार क्यों कर लिया, उन पर सवाल क्यों नहीं उठाया? ग्राम्शी ने सोचना शुरू किया कि समाज के शक्तिशाली समूहों द्वारा प्रोत्साहित संस्कृति और शिक्षा इसके लिए जिम्मेदार हैं। यह संस्कृति ऐसा भान करवाती है कि जो कुछ भी समाज में है वह सही है और जो कुछ हो रहा है वह श्रेष्ठ है। इसने ऐसा जताया कि खुद के अस्तित्व के लिए समृद्ध लोगों पर निर्भर होने के अलावा भुखमरी का दूसरा कोई विकल्प नहीं है। यह सब प्राकृतिक लगने लगा। ग्राम्शी ने इस अत्याचार की उपस्थिति को स्वाभाविक और अपरिहार्य समझने को उच्च वर्गीय संस्कृति का 'वर्चस्व' (हेजीमनी) कहा। श्रमिकों एवं शोषित वर्गों की वर्ग चेतना पर इनका इतना प्रभुत्व था कि वे भी उनकी तरह सोचने लगे थे। उनकी कल्पनाशक्ति उच्च वर्ग के वर्चस्व के अधीन थी तथा वे ऐसे किसी कर्म को समझने अथवा कोई विचार या धारणा बनाने और विवेचना करने में असमर्थ थे, जो उन्हें इस नियंत्रण से मुक्ति दिला सकती थी।

हालिया समाज विज्ञान में, ग्राम्शी द्वारा परिचित करायी गयी वर्चस्व की अवधारणा का, बहुत व्यापक उपयोग हुआ है। इसका उपयोग यह समझने के लिए किया गया कि ऐसा क्यों है कि महिलाएं अपने दमन के प्रति राजी होती हैं। महिलाओं को बताया जाता है कि उनका काम पुरुषों की सेवा करना है और जो कुछ भी गाली-गलौज और मारपीट उनके साथ की जाती है, उसे चुपचाप सहन करना उनका कर्तव्य है। अनेक महिलाएं इस पर विश्वास करने लगती हैं और उनके साथ जो भी किया जाता है, उसका विरोध करना बंद कर देती हैं। यहां तक कि वे इसे सही मानने लगती हैं कि बिना ऐसे नियंत्रणों व प्रतिबंधों के वे खुद एक अच्छा जीवन जीने में असमर्थ होंगी। ग्राम्शी ने जब वर्चस्व शब्द का प्रयोग किया था तब वो इसी बारे में बात कर रहा था। कई अध्येताओं व सामाजिक-कार्यकर्ताओं ने अनेक स्वरूपों की पहचान की है, जिनमें वर्चस्व कार्य करता है। भारत में अनेक दलित विश्वास करने लगे थे कि भूमिहीनता और उच्च जातियों द्वारा अपमानित होना उनका भाग्य था। उन्होंने कहा कि यह उनके किसी पूर्व जन्म के कुकर्मों के कारण अथवा उनके खुद के खराब नैतिक चरित्र की वजह से था। सामाजिक-कार्यकर्ताओं ने कहा है कि यह कुछ भी नहीं, बल्कि कुछ ऊंची जातियों द्वारा निर्मित सांस्कृतिक वर्चस्व था। असल में 'दलित' पद जिसका अर्थ अत्याचारित होता

है जाति की उपस्थिति को एक सामान्य व स्वाभाविक व्यवस्था के रूप में देखने की मनःस्थिति को तोड़ने का एक तरीका था। वस्तुतः यह ताकतवर द्वारा दमन व शोषण का एक रूप था।

वर्चस्व का निर्माण पूरी संस्कृति द्वारा होता है, जिसमें धर्म और शिक्षा शामिल है। आज के भारत में यह स्थापित हो चुका है कि प्रायः हमारी स्कूली शिक्षा में, इंजीनियरिंग व मेडिसिन के क्षेत्र में करियर का लक्ष्य वर्चस्वशाली हो गया है। यह स्वाभाविक लगता है कि जब कोई हाई स्कूल में जाता है तो उसका लक्ष्य ये करियर होते हैं। यदि ऐसे स्कूलों में कोई कहता है कि वो कुछ और करना पसंद करेगा या करेगी तो उसे सनकी या नाकाम समझा जाता है। 'कुछ और' एक संभावना हो सकती है, यह विचार एक आश्चर्य की तरह लगता है और कुछ अस्वाभाविक जैसा समझा जाता है।

संस्कृति, हमारे विचारों तथा क्रिया कलापों के माध्यम से स्वयं मनुष्यों द्वारा बनाई गई है। इसीलिए, संस्कृति व शिक्षा क्षेत्र के मार्क्सवादी समाजशास्त्रियों की इस बात में दिलचस्पी रही है कि, वर्ग चेतना कैसे बनती है तथा झूठी चेतना और वर्चस्व का निर्माण कैसे होता है। ग्राम्शी ने संकेत किया है कि मनुष्य विचारों का सृजन करता है और उन्हें इस या उस ढंग से प्रस्तुत करता है। इन गतिविधियों के जरिए हम अपने निकटतम संसार को समझने का प्रयास करते हैं और उन दृष्टिकोणों का उपयोग अपनी आगे की गतिविधियों के मार्गदर्शन हेतु करते हैं। जो कोई विचारों और संस्कृतियों को आकार देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं, ग्राम्शी ने उन्हें बुद्धिजीवी कहा है। बुद्धिजीवी महज वे ही नहीं होते, जिन्होंने विश्वविद्यालय की उपाधि हासिल की है और मोटा चश्मा पहनते हैं तथा किताबें व लैपटाप ढोते हैं। जो श्रमिक अपने जीवन की स्थितियों को समझते हैं तथा दूसरों की भी समझने में मदद करते हैं, वे भी बुद्धिजीवी हैं। कोई भी, जिसने ज्ञान को सुव्यवस्थित किया है तथा चीजों को एक निश्चित ढंग से समझने में दूसरों की मदद की है वह एक बुद्धिजीवी है। शिक्षक भी बुद्धिजीवी हैं क्योंकि उन्होंने खयालातों को सुव्यवस्थित किया और उन्हें एक असरदार ढंग से अपने छात्रों के समक्ष प्रस्तुत किया है।

ग्राम्शी ने कहा है कि बुद्धिजीवीगण अपने समाज से गहराई से जुड़े होते हैं और इससे अलग नहीं रहते। जैसे -जैसे सामाजिक वर्ग उभरे, वे अपने बुद्धिजीवी पैदा करने को प्रवृत्त हुए। ग्राम्शी ने इन्हें अंगीभूत बुद्धिजीवी का नाम दिया और कहा कि वे अपने वर्ग के नजरिए से विचारों व गतिविधियों को सुव्यवस्थित करते हैं। अतः प्रबंधक भी बुद्धिजीवी हैं, जिन्होंने विचारों तथा व्यवहारों व चीजों को इस तरह पेश करने के तरीकों का निर्माण किया, जो स्वामियों हेतु बड़े मुनाफों के लिए श्रमिकों पर नियंत्रण के उनके एजेंडे के उपयुक्त थे। बड़े उद्योगपतियों ने बुद्धिजीवियों को संरक्षण दिया जिन्होंने दुनिया को उनके नजरिए से देखा तथा उनके अपने वर्ग के एजेंडे को आगे बढ़ाने में उपयोगी सूचनाएं व अन्तर्दृष्टि पदान की। ग्राम्शी ने स्वयं को श्रमिकों के एक अंगीभूत बुद्धिजीवी के रूप में देखा, जो मजदूरों के एजेंडे के लिए उपयुक्त विचारों का सृजन कर रहा था। ग्राम्शी ने कहा है कि पारंपरिक बुद्धिजीवियों का भी अस्तित्व है, जो सुदूर अतीत में कभी उभरे थे और अब अपनी मूल वर्गीय स्थिति से संपर्क खो चुके हैं। उनकी उपस्थिति स्वतंत्र होने जैसी होती है, जैसे कि पुरोहित होते हैं जो कि ऐसा लगता है कि सांसारिक मामलों से अलग खड़े हैं, लेकिन इसके बावजूद आज भी इनके छिपे रिश्ते किसी न किसी वर्ग से होते हैं।

जो लोग हमारे समय में ग्राम्शी के विचारों को लागू करते हैं, कहते हैं कि शिक्षा के लिए चुनौती यह है कि यह ताकतवर के वर्चस्व को स्थापित करती है अथवा कमजोरों को सशक्त बनाने वाली संस्कृतियों का निर्माण करती है। जब हम शिक्षकों को प्रशिक्षित करते हैं तो सवाल उठता है कि वे ताकतवर लोगों के एजेंडे के प्रचारक बनते हैं अथवा हम उन्हें ऐसे बुद्धिजीवी बनने को शिक्षित कर रहे हैं, जो नये विचार व सोच रच सकते हैं तथा कमजोरों को उनके विचार व कर्म को व्यवस्थित करने में मदद कर सकते हैं। प्रश्न है कि क्या शिक्षक कमजोरों को अपनी 'फ्रेक्सिस' (आचारों) को मजबूत बनाने में मदद कर सकते हैं तथा कमजोरों को उनकी अपनी दमनचक्र की स्थितियों से बाहर निकलने योग्य बना सकते हैं।

शिक्षा के लिए यह सैद्धांतिक दृष्टिकोण  कहता है कि हमारे पास चयन की स्थितियां है, उदाहरण के लिए, भूगोल कैसे पढ़ाया जाय। क्या इसमें हमें सिर्फ इस बारे में बताना चाहिए कि हमारे देश में कहां-कहां संसाधन हैं या हमें यह भी बताना चाहिए कि खनिज संपदा से समृद्ध जंगलों में कौन लोग रहते हैं, और वर्तमान में कौन से वर्ग भूमि पर कब्जा जमाने के प्रयास में हैं? शायद स्कूल और शिक्षा, मजबूर आदिवासियों को बेदखल करने हेतु कानूनों में छेड़छाड़ करने वालों द्वारा की जा रही हिंसा व अन्याय को समझने में छात्रों की मदद कर सकते हैं। शिक्षा और शिक्षाविदों के समक्ष प्रश्न यह है कि क्या वे प्रभावशाली वर्गों तथा अन्य सामाजिक समूहों के वर्चस्व को प्रचारित करते हैं अथवा वर्चस्व के प्रतिकार को।

शिक्षा के समाजशास्त्र के मार्क्सवादी दृष्टिकोण में कई धाराएं हैं। कुछ लोग काफी कुछ आशावादी हैं कि शिक्षा एक ऐसी जगह है, जहां अधिक समानता के लिए संघर्ष हमारे देश की दशा में सार्थक सुधार ला सकता है। दूसरे, अधिक निराशावादी हैं और सोचते हैं कि इसमें बहुत कम गुंजाइश है और यह एक ऐसा क्षेत्र बना रहेगा, जहां ताकतवरों के वर्चस्व को बढ़ावा मिलता है, जब तक कि हमारे बाकी समाज में कोई जबरदस्त राजनीतिक बदलाव नहीं आता। अगले आलेख में इस परंपरा में हुए कुछ और कामों की पड़ताल हम करेंगे। ◆

**लेखक परिचयः** जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली से एमफिल एवं पीएचडी करने के बाद एकलव्य, होशंगाबाद के साथ लगभग 3 वर्ष तक कार्य किया। इसके उपरान्त आईआईटी, कानपुर में समाजशास्त्रा का अध्यापन किया। वर्तमान में अजीम प्रेमजी यूनीवर्सिटी, बैंगलोर में समाजशास्त्रा के प्रोफेसर हैं।

**संपर्कः** amman.madan@apu.edu.in

**संदर्भ और अतिरिक्त रीडिंग्स :**

Feinberg, Walter, and Jonas S. Soltis. 1998. School and Society. New York and London: Teachers College Press, Columbia University. Chapter "Marxist theory and education"

Gramsci, Antonio. 2000. "Intellectuals and Education." In The Antonio Gramsci Reader: Selected Writings 1916-1935, edited by David Forgacs, 300-322. New York: NYU Press.

Marx, Karl. (1844) 1974. The Economic and Philosophical Manuscripts. Translated by Gregor Benton. https://www.marxists.org/archive/marx/works/download/pdf/Economic-Philosophic-Manuscripts-1844.pdf. Section "Estranged labour"

# मुख्य आवरण के चित्रकार मूर्तिकार...

शशिकांत चार्बे महाराष्ट्र के नागपुर के रहने वाले चित्रकार मूर्तिकार हैं। चार्बे अर्द्धचित्र और म्यूरल बनाते हैं। ये अपने अर्द्धचित्रों के साथ रंगों का प्रयोग इस तरह करते हैं कि ये कृतियां चित्र और मूर्ति दोनों का आभास देती हैं। इनकी कला का विषय आम जन-जीवन ही रहता है मगर ये बच्चे और उनसे जुड़े विषयों की अभिव्यक्ति में सिद्धहस्त हैं। इनकी कलाकृतियों की अनेक प्रदर्शनियां आयोजित हो चुकी हैं तथा इनकी कृतियां देश-विदेश में संग्रहीत हैं। ◆

# सार्वजनिक शिक्षा और दलित लड़कियां

संदीप कुमार मील

आधुनिक राष्ट्र राज्य ने शिक्षा को सामाजिक रूपांतरण और नागरिक निर्माण की महत्वपूर्ण प्रक्रिया के रूप में अपनाया है। ऐसे में जब भी उस राज्य में समतामूलक समाज की स्थापना के समक्ष कुछ चुनौतियाँ आती है या वह अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं कर पाता है। ऐसे में उसकी दिशा और गुणवत्ता का मूल्यांकन करना हो तब उस प्रक्रिया को आलोचनात्मक दृष्टि से गुजारना होता है। भारतीय लोकतंत्र के संवैधानिक मूल्यों की स्थापना के समक्ष की चुनौतियों को शिक्षा के ढ़ांचे, प्रक्रिया और पद्धति से ही समझा जा सकता है। दलित लड़कियों की शिक्षा प्राप्ति के संबंध में जो चुनौतियां आती हैं उन्हें मूलरूप से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है - पहली चुनौती दलित पितृसत्ता की है, दूसरी चुनौती वर्णवादी वर्चस्व की है और तीसरी राज्य की शिक्षा व्यवस्था के दार्शनिक पक्ष और व्यवहारिक पक्ष की है।

अब पहली चुनौती की चर्चा की जाए जो दलित पितृसत्ता की है। दलित समाज में स्त्री को घर से बाहर काम का अधिकार है यानी कि वह मजदूरी करने के लिए स्वतंत्र है और सिर्फ घर की चार दिवारी में कैद नहीं है। इसका तात्पर्य यह कतई नहीं है कि वह आर्थिक रूप से निर्णय लेने में सक्षम है या उसकी मजदूरी पर उसका आधिपत्य है। उसकी मजदूरी पर आधिपत्य दलित पुरुष का ही है और वह यह भी तय करता है कि उसे कहां कार्य करना चाहिए या कहां कार्य नहीं करना चाहिए। कार्यस्थल पर मालिक उसके नियम कायदे तय करता है और घर पर उसके घर का पुरुष यह कार्य कर रहा होता है। दलित स्त्रियों के मजदूरी के काम में लगने और घर की चार दीवारी से बाहर निकलने के अपने ऐतिहासिक कारण हैं उनमें से एक प्रमुख कारण सामंतवादी दौर में उन्हें उत्पादन के प्रमुख साधन भूमि से वंचित किया जाना है। जब आमदनी का स्थायी साधन नहीं रहा तो प्रतिदिन कमाकर खाने की स्थिति आ गई। अकेले पुरुष की मजूदरी से घर का कार्य नहीं चलता तो स्त्री भी मजदूरी करने लगी। इसलिए उनके आर्थिक जीवन में शिक्षा की आवश्यकता ही महसूस नहीं की गई। अधिकतर दलित स्त्रियों के असंगठित क्षेत्र में मजदूर होने के कारण सिर्फ शारीरिक क्षमताओं का होना ही पर्याप्त माना गया।

प्राचीन भारत में दलितों और स्त्रियों दोनों की शिक्षा का कोई प्रावधान नहीं था। उन्हें ज्ञान की व्यवस्थित संरचना से दूर रखा गया था और उनकी ज्ञान प्राप्ति की किसी भी कोशिश के लिए दंड का प्रावधान भी था। इसलिए उस दौर में दलित स्त्रियों की शिक्षा की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। औपनिवेशिक भारत में दलित बालिकाओं के लिए सर्वप्रथम सन् 1852 में सावित्री बाई फूले ने एक कन्या विद्यालय की स्थापना की। वे भारत की पहली शिक्षिका थीं। उस समय स्त्रियों की शिक्षा पर पाबंदी थी। ऐसे समय में सावित्रीबाई फूले का बालिकाओं का विद्यालय खोलना भारतीय स्त्रियों की मुक्ति का पहला द्वार खोलने के समान था। इस कार्य को आगे बढ़ाने का कार्य ताराबाई शिंदे ने किया। राजस्थान में दलित शिक्षा के इतिहास को देखा जाए तो सन् 1869 में अजमेर में एक मिशनरी स्कूल में एक महतर बालक को प्रवेश दिया गया। सवर्ण समाज ने इसका विरोध किया।

अग्रेजों की शिक्षा ने एक बड़ा योगदान यह दिया कि उन्होंने वर्णवादी वर्चस्व को चुनौती दी और ज्ञान पर दलितों और स्त्रियों की पाबंदी को तोड़ा। सामाजिक चेतना के विस्तार में यह एक बहुत बड़ा मोड़ था जहां पर पूंजीवाद और सामंतवाद आमने-सामने खड़े हुए। पूंजीवाद के लिए आधुनिकता जरूरी थी, तभी उनको शिक्षित मजदूर उपलब्ध हो सकते थे और सामंतवाद के लिए अपनी परम्परागत धारणाओं को बचाना आवश्यक था क्योंकि यह उसके अस्तित्व का सवाल था। इसका परिणाम यह निकला कि जहां पर मिशनरी के माध्यम से शिक्षा दी जा रही थी वहां पर आधुनिकता प्रभावी रही। जहां पर अन्य तात्कालिक भारतीय शिक्षा प्रचलन में थी जिसमें बड़ी संख्या सामुदायिक शिक्षा की थी वहां पर परम्परागत मूल्यों का वर्चस्व रहा। ये दोनों मत लम्बे समय तक संक्रमण के दौर से गुजरे हैं और समय, स्थान व भूमिकाओं के आधार पर एक-दूसरे पर हावी भी होते रहे हैं। इस पूरे दौर में एक महत्वपूर्ण विचार ने समाज के अवचेतन में गहराई तक दस्तक दी; वह यह कि ज्ञान कोई भी प्राप्त कर सकता है। यह किसी की वंशगत और परिवार आधारित जन्मजात योग्यता पर निर्भर नहीं होता। इस विचार की अभिव्यक्ति बाद में डॉ. भीमराव अम्बेकर जैसे विद्वान के उभार के रूप में सामने आई। वर्तमान समय तक चली आ रही इस परम्परा और आधुनिकता के संक्रमण में दोनों का एक मिश्रण भी पैदा हुआ और उसी के तहत उच्च वर्णों में भी उदारवादी लोग सामने आये। इसी संक्रमण के बारे में रोडनी हिल्टन कहते हैं, ‘‘एक सामाजिक प्रणाली से दूसरी सामाजिक प्रणाली में संक्रमण ऐसी प्रक्रिया होती है जिसमें दोनों प्रणाली सीधे-सीधे एक-दूसरे का मुकाबला करती हैं, लेकिन इन संक्रमणकालीन स्वरूपों को सर्वोच्चता के लिए संघर्ष करती दोनों प्रणालियों के मिले-जुले तत्वों का मिश्रण माना जाता है।’’[1]

इन दोनों व्यवस्थाओं के संक्रमण से जो मिश्रित तत्व निकलकर आया वो था कि पितृसत्ता को उपस्थित रखा जाए लेकिन कुछ स्त्रियोचित कार्यों के लिए स्त्रियों को शिक्षा दी जाए। इसमें शिक्षिकाओं और मेडिकल के कुछ रोजगारों को रखा गया। शिक्षिका प्रजनन क्षमता के कारण बालक के लालन-पालन के लिए परम्परागत मूल्यों का आधुनिक रूपांतरण मात्र था और मेडिकल के कार्य भी स्त्रियों के लिए पितृसत्ता द्वारा निर्धारित देखभाल से संबंधित थे। इन दोनों कार्यों के लिए स्त्री की भूमिका को सामंतवाद तो इसलिए महत्व देता है कि वे पुरुष के नियंत्रण में होती हैं। पूंजीवाद उनके श्रम के अतिरिक्त मूल्य को आसानी से हासिल कर पाने के कारण कोई ऐतराज नहीं करता है। लेकिन जब वर्णवादी वर्चस्व ने अपना प्रभाव दिखाया तो वह भी इस संक्रमण में कुछ हस्तक्षेप कर पाया। वह हस्तक्षेप यह था कि दलित स्त्रियों को इन रोजगारों से भी लम्बे समय तक दूर रखा गया। वर्चस्ववादी समाज यह बात तो मान रहा था कि जो स्त्री घर में बच्चों को पालती है वह विद्यालय में पढ़ा भी सकती है लेकिन यह स्वीकार नहीं कर पा रहा था कि वे जिस स्त्री को अपने बच्चे छूने का अधिकार नहीं देते वो विद्यालय में उनको पढ़ाये।

स्वतंत्र भारत में संविधान में समानता के मूल्यों को प्रमुख स्थान देने के कारण दलित स्त्रियों की शिक्षा के रास्ते खुले लेकिन घर में दलित पितृसत्ता ने मजबूती से जकड़ बना रखी थी। वहीं विद्यालयों के सार्वजनिक लोकस्थलों का पितृसत्तात्मक और जातिवादी ढ़ांचा नहीं टूटा। स्कूलों में बालिकाओं से वे ही सारे कार्य कराये जाते जो भूमिका पितृसत्ता ने घर के दायरे में स्त्रियों के लिए निर्धारित कर रखी थी। दलित लेखन में इसके पर्याप्त उदाहरण हैं कि दलित बालिकाओं से विद्यालय में सफाई जैसे कार्य करवाये गए और उनके साथ छुआछूत का व्यवहार किया गया। विद्यालय ने अपने दायरे में असमानता की परम्पराओं को तोड़ने की कोशिश नहीं की। दलित पितृसत्ता स्त्रियों के बारे में उनका पति की सम्पत्ति होने का जो तर्क घर में देती थी, विद्यालय भी उनकी पुष्टि में लग गया। इसलिए दलित बालिकाओं का विद्यालय के प्रति बहुत अधिक लगाव नहीं बढ़ा। वे यहां घर की कैद से बाहर आकर भी आजाद महसूस नहीं करतीं।

वर्ण व्यवस्था के वर्चस्ववादी ढ़ांचे ने जो श्रम और ज्ञान के बीच गहरा भेद उत्पन्न कर दिया था विद्यालय ने उसे भी पाटने की विशेष कोशिश नहीं की। दलितों को हमेशा उनके भावी विकल्पों के तौर पर वे ही कार्य सुझाये गए जो इस व्यवस्था ने उनके उत्पीड़न के लिए निर्धारित किये थे। उनके श्रम और कार्यों को ज्ञान के दायरों में शामिल ही

---

1. रोडनी हिल्टन (सं.), सामंतवाद से पूंजीवाद में संक्रमण, पाल एम. स्वीजी : डाब की स्थापना की आलोचना, ग्रंथ शिल्पी प्रा. लिमिटेड, दिल्ली, प्रथम हिन्दी संस्करण 2007, पृ. 49।

नहीं किया गया। उसका परिणाम यह हुआ कि दलित बालिकायें विद्यालय की शिक्षा को अपने परिवेश से जोड़ नहीं पाईं। समावेशी विकास के तहत उन्हें कक्षा-कक्ष में सम्मानजनक और स्वत्रंत वातावरण इसलिए नहीं मिल पाया क्योंकि अध्यापकों के अपने पूर्वाग्रह थे। वे भी शिक्षा की उसी प्रक्रिया से आये थे जहां पर इन पूर्वाग्रहों पर चोट करके कोई वैज्ञानिक चेतना का विस्तार नहीं किया गया था।

विद्यालयों में शिक्षा पद्धति के रूप में दंड और पुरस्कार की अवैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग में सवर्ण और दलित के बीच का भेदभाव चलता रहा है। दलित बच्चों को उनकी जाति के कारण कठोर दंड सहन करना पड़ता है तो सवर्ण बच्चों को कुछ छूट मिल जाती है। दलित बालिकाओं के साथ तो दंड में शिक्षक अपनी यौन कुंठाओं को भी उडेल देते हैं। इसके कारण दंड की अमानवीयता बढ़ जाती है और एक सीमा पर आकर दलित बालिकाओं का विश्वास विद्यालय नामक संस्था से ही उठ जाता है।

दलित बालिकाओं की शिक्षा में दूसरी चुनौती वर्णवादी वर्चस्व की रही है जिसका सामना उन्हें अपने घर के बाहर निकलने से लेकर वापसी तक सभी जगहों पर करना पड़ता है। उनके अपने मोहल्ले से बाहर निकलते ही चुनौतियों का अचानक बढ़ जाना वर्णवादी वर्चस्व के परिवेश में उनकी शक्तिहीन स्थिति को प्रदर्शित करता है। इसके साथ ही, यह भी एक ध्यान देनी वाली बात है कि गांवों के स्कूल अधिकांश दलित बस्तियों से दूर होते हैं। दलित बालिकाओं को यातायात के उचित साधन न होने के कारण वहां तक पहुंचने में भी काफी मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। अंततः दलित बालिकायें विद्यालय छोड़ देती हैं। उन्हें घर पर अपने छोटे भाई-बहनों को भी संभालना होता है क्योंकि माता-पिता तो मजदूरी पर चले जाते हैं। उनके छोटे भाई-बहनों को जब वे विद्यालय में ले जाती हैं तो शिक्षक उन्हें कक्षा में अपने साथ बिठाने की अनुमति नहीं देता है। कई बार वे बच्चे अपनी बहनों के साथ बैठे हुए कुछ सहज बाल-सुलभ गतिविधियां कर देते हैं जिसमें हंसना, रोना, उछलना आदि हैं। उसके बाद शिक्षक द्वारा उन बालिकाओं को लज्जित किया जाता है। कक्षा के बच्चे उन पर हंसते हैं और लड़कों की तरफ से इस हंसने में अधिक उत्साह से भागीदारी होती है।

जॉन ड्यूई का वह सवाल याद आता है, ''हमें अपनी पाठशाला के कार्य की परीक्षा यह पता लगाकर भी करनी चाहिए कि क्या वह अच्छे निर्णय के लिए आवश्यक परिस्थितियां प्रस्तुत करती है।''[2] इसे दलित बालिकाओं की स्थिति से देखा जाए तो उनके लिए अभी भी भारत में उपयुक्त संवैधानिक परिस्थितियां उपलब्ध नहीं हैं। स्वतंत्रता के बाद उनके साथ खाने-पानी के सहज मानवीय स्वभाव को विकसित करना तो दूर की बात है उनके द्वारा छू देने मात्र से उनके साथ दुर्व्यवहार किया जाता है। स्कूल में जब से पोषाहार और मध्याह्न भोजन का प्रावधान हुआ है तब से कई समाचार इस संबंध में समाचार पत्रों में प्रकाशित होते रहे हैं कि दलित बच्चों को अलग कतार में बैठाकर भोजन कराया जाता है, उनके बर्तन अलग होते हैं आदि। इंडिया टुडे की एक रिपोर्ट के अनुसार, ''45 प्रतिशत बच्चे निरक्षर रह जाते हैं। करीब 40 फिसदी सरकारी स्कूलों में दलितों बच्चों को कतार से अलग बैठकर खाना पड़ता है।''[3]

ऐसी अमानवीय और असमानतामूलक परिस्थितियों के आधार पर भारतीय विद्यालयों के परिवेश का बड़ा आकलन किया जा सकता है। इस परिवेश को विद्यालयों की प्रतिदिन की गतिविधियों के आधार पर समझा जा सकता है। किसी विद्यालय की प्रार्थना-सभा से पूर्व का समय साफ-सफाई का होता है और भारतीय समाज के वर्णवादी वर्चस्व में यह निर्धारित है कि सफाई जैसे काम दलित समुदाय को करने होंगे। विद्यालय भी इसी सोच को आगे बढ़ाते हैं और सफाई के कामों की बात आते ही शिक्षकों की सोच में भी दलित बच्चों के नाम आते हैं। चूंकि सफाई के काम वर्णवाद ने तो दलित समुदाय को पूरे करने के लिए मजबूर कर दिया लेकिन दलित समाज में भी उसको करने की अंतिम जिम्मेदारी स्त्री पर आती है। विद्यालय भी उसी सोच को आगे बढ़ाते हुए सफाई का कार्य दलित बालिकाओं से करवाता है। वे घर में भी सफाई का काम करती है और विद्यालय में आकर भी वही काम करना होता है और दोनों ही जगह

---

1. जॉन ड्यूई : शिक्षा में नैतिक सिद्धांत, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा. लिमिटेड, नई दिल्ली, 2012, पृ. 47।
2. http://thewirehindi.com/26899/bihar-dalit-atrocity-bhagalpur-gangrape-murder-nitish-kumar/

उनकी सहमति-असहमति का कोई महत्व नहीं होता है। ऐसी स्थिति में कोई दलित बालिका घर और विद्यालय में कोई अन्तर नहीं कर पाती है। उसके लिए तो दोनों ही स्थान एक समान हैं जहां उसे सबसे नीचले स्तर का कार्य करने को मजबूर किया जाता है। इस मनोदशा में कोई बालिका जब संविधान में वर्णित समानता की बात का अध्याय कक्षा में पढ़ रही होती है तो उसे व्यवहार और सिद्धांत के बीच बहुत दूरी महसूस होती है। वह उन बातों के साथ तार्किक रूप से जुड़ने के बावजूद संवेदनात्मक रूप से नहीं जुड़ पाती है।

कोई भी सिद्धांत जब कानून का रूप धारण कर लेता है तब लोग उसे मानने के लिए बाध्य तो हो जाते हैं लेकिन उसके मूल्यों को अपने जीवन में आत्मसात नहीं कर पाते हैं। यह तभी संभव है जब लोग सिद्धांत और व्यवहार के मध्य एक सामंजस्य बैठा पाएं। सिद्धांत उनके व्यवहार को परिमार्जित करता रहे और व्यवहार से सिद्धांत को नए सवाल और चुनौतियां मिलती रहें। यहां पर स्थिति ऐसी होती है कि व्यवहार में वर्णवादी वर्चस्व हावी रहता है और पाठ्य-पुस्तकों में लोकतांत्रिक समानता उपस्थित होती है। इन दोनों के अंतर्द्वंद में हमेशा ही व्यवहार अधिक प्रभावी होता है। यह भारतीय विद्यालयों में भी हुआ और पाठ्य-पुस्तकें अपना प्रभाव नहीं छोड़ पाईं क्योंकि विद्यालय में चर्चा, व्यवहार और गतिविधियां इन पाठ्य-पुस्तकों की दिशा में गई ही नहीं। इसलिए यहां पर शिक्षा समाज के आगे चलने की बजाय समाज ने उसे अपने अनुरूप ढ़ाल लिया।

सार्वजनिक विद्यालयों की प्रार्थना सभाओं का ढांचा धर्मनिरपेक्ष होने की बजाय बहुसंख्यक आबादी के हिन्दू धर्म के अभ्यास को अपना चुका है। इसी कारण से इस गतिविधि में भी वर्णवादी वर्चस्व हावी रहता है। प्रार्थना में अक्सर बालिकाओं को नेतृत्व दिया जाता है क्योंकि पितृसत्ता की यह मान्यता है कि स्त्रियों के स्वर अच्छे होते हैं जिससे वे सुरीला गा पाती हैं। प्रार्थना में पितृसत्ता की यह सोच दलित बालिकाओं के मामले में कमजोर पड़ जाती है और वर्णवादी वर्चस्व हावी हो जाता है जिससे दलित बालिकाओं को कभी भी प्रार्थना का अवसर नहीं दिया जाता। वे एक तरफ संविधान में वर्णित अवसरों की समानता का सिद्धांत पाठ्य-पुस्तकों में पढ़ती हैं वहीं दूसरी तरफ अवसरों की उपलब्धता में किया जाने वाला भेदभाव वास्तविकता में देखती हैं। प्रार्थना में जिस तरह के परम्परागत मूल्यों के प्रति विद्यार्थियों से आस्था जगवाई जाती है वे विवेक, तर्क और वैज्ञानिकता से बहुत दूर होते हैं। जब विद्यालय का सुबह का आधार ही संवैधानिक मूल्यों के विपरीत दिशा में प्रारंभ होता है तो निश्चित रूप से दिन भर के शिक्षण में इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव बच्चों के मस्तिष्क पर रहता है।

अब कक्षा-कक्ष के आंतरिक ढ़ांचे को देखा जाये तो वहां भी यह वर्णवाद और पितृसत्तात्मक वर्चस्व स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। लड़कियां हमेशा अग्रिम पंक्ति में बैठाई जाती हैं क्योंकि यह मान्यता है कि लड़कियों पर शिक्षक की दृष्टि रहनी चाहिए। पीछे बैठने पर लड़के और लड़की के बीच का भेद समाप्त होकर उनके संवाद की उम्मीद हो सकती है। इसलिए ऐसी किसी भी उम्मीद को विद्यालय में ना अंकुरित होने देना शिक्षक अपना दायित्व समझते हैं। लड़कियों में भी दलित लड़कियां अधिकांशतः सवर्ण लड़कियों के पीछे की कतार में बैठाई जाती हैं जो लड़कों के एकदम आगे होती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि शिक्षक की दृष्टि में दलित लड़कियों का स्थान सवर्ण लड़कियों के बाद का है। कक्षा-कक्ष की बैठक व्यवस्था भारतीय शिक्षा में समाज के सभी स्तरीकरणों का प्रतिनिधित्व करती है जहां पर बच्चे का बैठने का स्थान उसकी जाति और जेंडर के आधार पर तय होता है। इस व्यवस्था से समाज की वर्णवादी शक्ति संरचना लोकतांत्रिक स्थल में प्रवेश कर जाती है और उस स्थल को अपने लक्ष्यों से भटकाने का काम करती है। अब वह एक कक्षा-कक्ष न रहकर समाज का छोटा रूप हो जाता है। वैसे ही सामाजिक द्वंद और तनाव कक्षा-कक्ष में आने लगते हैं और वे असमानता के मनोविज्ञान को एक स्थाई स्वरूप देने में सफल होते हैं।

यह व्यवस्था इसलिए भी अधिक प्रभावी हो पाई क्योंकि कक्षा-कक्ष में एक और शक्ति संरचना उपस्थित रहती है और वह शक्ति संरचना शिक्षक की होती है जो स्वयं को इस कक्षा-कक्ष की धुरी मानता है। शिक्षक के लिए कुर्सी होती है और बच्चे अधिकांशतः नीचे दरी पर बैठते हैं। बच्चे इस विशेष तैयार की गई व्यवस्था में शिक्षक के साथ स्वयं को जोड़ नहीं पाते हैं और दलित बालिकाओं के लिए तो यह अधिक चुनौतीपूर्ण हो जाता है। कुछ समय तक तो बच्चे

अपने मनोविज्ञान में इस स्थिति का प्रतिकार करते हैं लेकिन एक सीमा के बाद उनकी चेतना यह स्वीकार कर लेती है कि शिक्षक, कक्षा-कक्ष और उनके बीच के संबंधों में शिक्षक एक शक्ति केंद्र है। जहां भी कोई शक्ति का केंद्र स्थापित हो जाता है तो वह अपना प्रभाव भी बनाता है और इस प्रभाव को जब बच्चों द्वारा महसूस करना शुरू कर दिया जाता है तब से उनकी चिंतन प्रणाली प्रभावित होने लग जाती है।

कक्षा-कक्ष की बहुशक्ति केंद्रित व्यवस्था में सबसे नीचे के पायदान पर दलित बालिका होती है। उसकी चिंतन प्रणाली एक सीमा के बाद यथास्थितिवादी हो जाती है और वह अपनी स्थिति को एक नियति के रूप में स्वीकार कर लेती है। यह किसी भी लोकतंत्र के लिए एक घातक कदम है कि उसका भावी नागरिक अपने विकास के पहले ही चरण में नियतिवाद की तरफ बढ़ जाता है। भविष्य में न तो वह स्वतंत्र निर्णय लेने वाला नागरिक बनता है और न ही उसकी आलोचनात्मक दृष्टि विकसित हो पाती है। कक्षा-कक्ष की यह संरचना बच्चों के मन में पैदा होने वाले सवालों को भी प्रभावित करती हैं। दलित बालिकायें जो सवाल घर में नहीं पूछ सकती उन्हें कक्षा-कक्ष में पूछा जाना चाहिए था लेकिन वे सवाल उनके मन में ही रह जाते हैं। इस अघोषित भय के माहौल में कक्षा-कक्ष में एक तरफा शिक्षण होने के कारण उदासीनता आ जाती है।

जब विद्यालय के विभिन्न स्थानों पर वर्णवादी वर्चस्व कार्य करता है तो वह निश्चित रूप से खेल के मैदानों तक भी पहुंच ही जाता है। खेल के मैदानों में अधिकांश शिक्षकों का कोई हस्तक्षेप नहीं होता है। कई विद्यालयों में शारीरिक शिक्षा के शिक्षक ही नहीं होते और जहां शिक्षक होते हैं वे भी अपनी जिम्मेदारी प्रार्थना करवाने और कुछ अनुशासन बनाने तक ही सीमित रखते हैं। बच्चों के साथ खेल के मैदान में शिक्षक को बहुत कम विद्यालयों में देखा जाता है। ये मैदान पूरी तरह से बच्चों के नियंत्रण में होते हैं और बच्चे इनका बंटवारा अपनी सामाजिक मान्यताओं के आधार पर करते हैं क्योंकि यहां तक आते हुए उन्हें यह पूरा विश्वास हो जाता है कि समाज में जो चल रहा है, जो मूल्य स्थापित हैं या जो स्तरीकरण है उनका यहां विद्यालय में प्रयोग करने पर कोई रोक नहीं है और विद्यालय अलग तरह का लोकस्थल नहीं है। इस विश्वास के कारण वे खेल के मैदान के अधिकांश हिस्से पर सिर्फ लड़कों के आधिपत्य को स्थापित कर पाने में कुछ सहयोग करते हैं और जिनको विरोध करना चाहिए वे विरोध नहीं कर पाते हैं। वैसे भी भारतीय समाज में खेलों का विभाजन, खेल स्थलों का विभाजन और खेलने के लिए उपलब्ध समय का विभाजन वर्णवादी और पितृसत्ता के निर्देशन में होता है। कुछ खेलों को लड़कों के लिए निर्धारित कर दिया जाता है कुछ लड़कियों के लिए। लड़कों के लिए निर्धारित खेलों में कबड्डी और फुटबॉल जैसे खेल होते हैं जिन्हें मर्दानगी से जोड़कर श्रेष्ठ खेलों में शामिल कर दिया जाता है। एक ऐसी मान्यता रची जाती है कि ये खेल लड़कियां नहीं खेल सकती हैं। उनके लिए निर्धारित खेल मूल रूप से परिवार में स्त्री के लिए निर्धारित छवि के अनुरूप होते हैं जिसमें वे मां, पत्नी, बहन और बेटी की भूमिकाएं सामंती सामाजिक मूल्यों अनुरूप निभाएं।

खेल में भी समाज अपना नियंत्रण रखता है कि कोई नागरिक उस नियंत्रण से बाहर जाने की कोशिश ना करे और यह भी भ्रम रचा जाता है कि वह अपने उत्पीड़न को इंजॉय करे। विद्यालय के खेल मैदान में भी इसी तरह की शक्तियों का नियंत्रण होता है और अधिकांश मैदान पर लड़कों के खेलों का अधिकार हो जाता है। खेलों के स्तरीकरण में उनको मिलने वाली जगह भी महत्वपूर्ण हो जाती है। जैसे कि लड़कों के खेलों को बड़े मैदान दिये जाते हैं जहां वे खुलकर खेल सकते हैं। दौड़ सकते हैं, उछल सकते हैं और खुले आकाश में लम्बी दूरी के सपने देख सकते हैं और सपनों का स्पेस से बहुत गहरा रिश्ता है। हालांकि तंग जगहों पर भी मुक्ति के सपने देखे जा सकते हैं लेकिन उसके लिए चेतना के विस्तार की आवश्यक होती है और शिक्षा का मुख्य काम यही है कि लोगों को उत्पीड़न का अहसास कराये और मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करे।

विद्यालय के इन खेल के मैदानों में जो स्पेस लड़कियों के लिए निर्धारित होता है वह कोई पेड़ की छांव या मैदान का कोना होता है जहां पर वे खेलती हैं। इस स्पेस में भी दलित बालिकाओं की भागीदारी कम होती पाती है क्योंकि लड़कियों के समूह भी जाति और वर्गीय आधार पर बंट जाते हैं। दलित लड़कियों का समूह इसलिए भी अलग बनता

है कि वे एक ही मोहल्ले की रहने वाली होती हैं, उनकी आर्थिक स्थिति भी समान होती है और जाति का दंश भी झेलती हैं। खेल का मैदान भी असहजतापूर्ण होने के कारण ये लड़कियां खेलती ही नहीं हैं, अन्य लड़कियों को खेलते हुए देखती हैं। कई बार बहुत कम उम्र की दलित लड़कियां उच्च जाति की लड़कियों के साथ खेलने की कोशिश करती हैं लेकिन वे उन्हें अपने साथ खिलाती नहीं हैं क्योंकि घर और समाज उनकी सोच में एक असमानता और अलग होने का भाव भर देते हैं। ऐसी स्थिति में ये दलित लड़कियां शिक्षकों के पास शिकायत लेकर आती हैं। तब शिक्षक की भूमिका ऐसी हो जाती है कि वह सवर्ण लड़कियों के साथ इस तरह से संवाद स्थापित करे कि उनके मन में समानता का भाव जागृत हो और एक मानवीय गरीमा के मूल्य को वे अपने जीवन में उतार सकें। दलित लड़कियों का आत्मबल मजबूत हो और वे स्वयं के साथ होने वाले अत्याचार का भविष्य में प्रतिकार कर सकें। कुछ शिक्षक इस तरह का अभ्यास करते भी हैं लेकिन बहुत सारे ऐसे भी होते हैं जो इन बातों पर या तो ध्यान नहीं देते या फिर उन दलित लड़कियों को इस तरह का जवाब देते हैं कि वे अपने साथ हो रहे असमानता के व्यवहार को मौन रहकर सहने को विवश हो जाती हैं। कुछ शिक्षक ऐसे भी होते हैं जो इसी व्यवहार को उचित बताते हैं और उन्हें अलग खेलने का आदेश देते हैं। इन सभी स्थितियों में शिक्षकों की तुलना में शिक्षिकाओं का व्यवहार उदारतापूर्ण देखा जाता है लेकिन जाति आधारित मानसिकता उनकी उदारता को भी प्रभावित करती है।

वास्तव में विद्यालय के शिक्षकों के साथ जाति, वर्ग और जेंडर की चुनौतियों पर गंभीर अध्ययन-अध्यापन ना तो सेवापूर्व प्रशिक्षण में होता है और न ही सेवाकालीन प्रशिक्षणों में। इसके परिणामस्वरूप ऐसे सामाजिक द्वंदों के निवारण के बारे में शिक्षक कोई वैज्ञानिक व लोकतांत्रिक पहल नहीं कर पाते हैं और वे समाज में अर्जित ज्ञान के आधार पर ही इन प्रश्नों पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं जो वैज्ञानिक व लोकतांत्रिक नहीं होने के कारण रूढ़ और जड़तापूर्ण होती है। जाति व्यवस्था का विद्यालयों के परिवेश में फलने-फूलने के जिम्मेदार शिक्षक नहीं होते हैं जैसा कि कुछ लोग आरोप लगाते हैं बल्कि इसकी जिम्मेदार शिक्षण प्रक्रिया है जिससे लोगों की विश्लेषण क्षमता का विकास होता है। इस प्रक्रिया के तहत सामाजिक मान्यताओं पर प्रश्न किये ही नहीं जाते हैं और कुछ प्रश्न अपनी स्वभाविक प्रक्रिया से सामने आते हैं तो उन पर किसी प्रकार का तर्क करने की बजाय परम्परा के नाम पर यथास्थिति को स्वीकार कर लिया जाता है। वास्तव में तो शिक्षण प्रक्रिया के माध्यम से इन पर तर्क पूर्ण चर्चा होना आवश्यक है। इस चर्चा को एक संयोजित संवाद के माध्यम से किया जाये तो वर्णवादी वर्चस्व की असमानता पर सभी बच्चे और शिक्षक एक वैज्ञानिक समझ विकसित कर पाते और समानता के पक्ष में एक बड़ा शिक्षित समुदाय उभरकर सामने आता। खेल के माध्यम से तो ऐसी चर्चाओं को काफी गंभीर और अर्थपूर्ण बनाया जा सकता है क्योंकि खेल में आगे बढ़ने का आधार जन्मजात न होकर अवसर और अभ्यास पर निर्भर होता है। इसी तथ्य को सामाजिक संदर्भ में रखकर चर्चा की जाती तो स्पष्ट हो जाता कि जन्मजात असमानता का सिद्धान्त असत्य है। बच्चे इस तथ्य को जीवन में उतारते जिससे भविष्य में लोकतंत्र में सामनता के मूल्यों की स्थापना में वे अपना योगदान दे पाते। लेकिन ऐसी चर्चाओं के ना होने के परिणामस्वरूप विद्यालयों के अधिकांश स्पेस में दलित लड़कियों की भागीदारी नहीं हो पाती है।

इसी तरह से पुस्तकालय भी विद्यालय का एक प्रमुख स्थल होता है जहां पर बच्चे कक्षाओं की श्रेणी से मुक्त होकर संवाद कर पाते हैं और एक-दूसरे को समझ पाते हैं। सार्वजनिक विद्यालयों में पुस्तकालयों की स्थिति बहुत चिंताजनक हो चुकी है। पुस्तकालय के लिए प्राथमिक आवश्यकता वह कमरा माना जा सकता है जिसमें पुस्तकों को रखा जाना होता है लेकिन विडम्बना है कि अधिकांश विद्यालयों में ऐसा कोई कमरा निर्धारित होता ही नहीं है। मेरा जयपुर के कुछ विद्यालयों का ऐसा अनुभव है कि वहां पर पुस्तकें तो होती हैं लेकिन उन्हें अल्मारियों में बंद करके या तो स्टोर रूम में रखा जाता है या फिर किसी कक्षा-कक्ष में जहां पर विद्यार्थियों का बैठकर अध्ययन करना संभव नहीं होता। विद्यालयों में पुस्तकालय का प्रभार जिस शिक्षक के पास होता है वह प्रायः ऐसा करता है कि वर्ष में एक बार सब बच्चों को एक-एक पुस्तक देता है। इस पुस्तक देने की प्रक्रिया में बच्चे की रुची का किसी तरह से ध्यान नहीं रखा जाता है। उन्हें एक पंक्ति में खड़ा करके बारी-बारी से पुस्तक दी जाती है। यह एक तरह से पुस्तकों का लॉटरी सिस्टम होता है जिसमें इस संयोग की कम ही संभावनाएं रहती हैं कि लोगों को उनकी पसंद की पुस्तकें मिल जाएं। इसी स्थिति

में दलित लड़कियों को सबसे पुरानी पुस्तकें मिलने की संभावनाएं होती हैं। यह भी अधिकांशतः होता है कि उनकी बारी आते-आते पुस्तकें ही समाप्त हो जाती हैं क्योंकि उन पंक्तियों में दलित लड़कियों के सबसे पीछे खड़े होने का परिवेश रचा जा चुका होता है। वास्तव में तो विद्यालयों में पक्तियों में प्रार्थना, पंक्तियों में कक्षा-कक्ष की बैठक व्यवस्था या अन्य सारी गतिविधियां भी पक्तियों के माध्यम से होती हैं और उन पंक्तियों का स्तरीकरण सामाजिक ढांचे के अनुरूप हो जाता है।

दलित लड़कियों को मिलने वाली पुस्तकों के साथ एक चुनौती यह भी आती है कि उनके घर में जो छोटे भाई-बहन होते हैं उनसे पुस्तकों की सुरक्षा करना। जब ये लड़कियां घर में पुस्तकें पढ़ रही होती हैं तो छोटे बच्चे झपटकर उन पुस्तकों को नुकसान पहुंचा देते हैं जिस पर शिक्षक की डांट सुनने के कारण इन पुस्तकालय की पुस्तकों के प्रति उनका लगाव कम होने लगता है। वे परिवार और विद्यालय की संरचनाओं के मध्य अपनी रुचियों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति नहीं पाती हैं। एक तरफ परिवार के आर्थिक संकटों के कारण बहुत मुश्किलों का सामना करते हुए विद्यालय तक पहुंचती हैं और दूसरी तरफ विद्यालय का वातावरण समावेशी न होने के कारण वहां पर उन्हें नेतृत्व में आगे आने के अवसर नहीं मिल पाते हैं। इससे उनकी निर्णय क्षमताओं पर गहरा मनो-सामाजिक प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव ऐसा होता है जिसमें स्वतंत्र चिंतन के स्थान पर शक्तिधारक के मत के प्रति सहमति प्रदान करना अपने हित का सर्वोत्तम रणनीतिक रास्ता माना जाता है और ऐसी रणनीतिक चुप्पी अपने अस्तित्व के लिए उत्पीड़ित समाज अपनाता है। एक सीमा पर जाकर वही चुप्पी की रणनीति उनके व्यवहार का प्रमुख आधार हो जाती है और उसे तोड़ने के लिए स्वतंत्र चेतना को लम्बा संघर्ष करना पड़ता है। निश्चित रूप से चुप्पी के इस दौर के समानान्तर एक प्रतिरोध की चेतना का विस्तार भी उनकी चेतना में विकसित होता रहता है लेकिन वह बाहर अभिव्यक्त होने के अवसरों को तलाशती रहती है। एक लोकतांत्रिक प्रणाली के रूप में इन अवसरों को उपलब्ध कराना विद्यालय की जिम्मेदारी होती है।

यहां पर ध्यान देने वाली बात यह भी है कि क्या सारे सार्वजनिक विद्यालयों की स्थिति दलित बालिकाओं के साथ व्यवहार को लेकर समान है? ऐसा नहीं है क्योंकि सार्वजनिक विद्यालयों की भौगोलिक और सामाजिक अवस्थिति के कारण ही उसका व्यवहार निर्धारित होता है। देश में सार्वजनिक विद्यालयों का एक समान व्यवहार अभी भी कार्यरूप में परिणित नहीं हुआ है। इसमें स्थानीयता के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। ग्रामीण क्षेत्र में जाति व्यवस्था की जकड़न शहरी क्षेत्र से तुलनात्मक रूप से अधिक है तो वहां पर बच्चों के साथ होने वाले व्यवहार को यह अधिक प्रभावित करती है, वहीं पर शहरी क्षेत्र में जाति का दंश कम हो जाता है। यहां पर सार्वजनिक विद्यालयों में अध्ययनरत अधिकांश बच्चे मजदूर वर्ग के होते हैं और उनका परिवार विभिन्न जगहों से पलायन करके शहर में आता है। इसलिए यहां पर जाति के आधार पर अन्य या अलग होने की धारणा बनने के स्थान पर क्षेत्र और बोलियों के आधार पर शक्ति संरचनाओं में परिवर्तन हो जाती है, लेकिन इसका यह तात्पर्य कतई नहीं कि शहरों में मजदूर वर्ग में जाति विलुप्त हो जाती है। वह उपस्थित रहती है और उनके सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को प्रभावित और नियंत्रित भी करती है लेकिन उनके कार्यस्थलों पर जाति का रूपांतरण वर्ग में हो जाता है। वहां वे मजदूर होते हैं और इसी कारण उनके रहने की बस्तियां मजदूरों की बहुतायत के चलते उनकी वर्गीय पहचान बनाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

भारत में दलित लड़कियों की शिक्षा की स्थिति और चुनौतियों को समझने के लिए तीसरा पक्ष शिक्षा के दार्शनिक आधारों का है। देश की शिक्षा के दार्शनिक आधारों का विकास निश्चित रूप से प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक के विकास में हुआ है। इन्हें दो प्रमुख भागों में विभाजित किया जा सकता है, एक भाग में आधुनिक शिक्षा से पूर्व की शिक्षा पद्धति के दार्शनिक आधार थे। इनमें वंचितों जिसमें स्त्रियों और दलितों की शिक्षा के प्रावधान नहीं थे बल्कि उनकी शिक्षा पर एक तरह से रोक थी। यहां पर शिक्षा को जिस ज्ञान के माध्यम से जोड़ा गया वह ज्ञान सम्पूर्ण समाज की मुक्ति से संबंधित न होकर एक वर्ण के रोजगार से संबंधित था। इसलिए उस ज्ञान में किसी प्रकार की द्वंद्वात्मकता नहीं थी। जो यथास्थिति में ग्रंथों में वर्णित ज्ञान था उसे पीढ़ी दर पीढ़ी रटना होता था क्योंकि जिसको

उस ज्ञान में रुची नहीं थी उसके पास भी जीवनयापन के अन्य कोई विकल्प नहीं थे। उदाहरण के रूप में देखा जाए तो ज्ञान पर परम्परागत आधिपत्य ब्राह्मण वर्ग का था और दूसरा कोई किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने की कोशिश करता तो उसे यह वर्ग अपनी शक्ति संरचना पर आक्रमण समझता। इन आक्रमणों को रोकने के लिए वह धर्म में पाप के भय के प्रावधान करके रखता था।

भारतीय शिक्षा में रटने की पद्धति यहां के परम्परागत ज्ञान मूल्यों के कारण आई है। पश्चिम की शिक्षा में तर्क और विवेक दो प्रमुख आधार तत्व हैं और सम्पूर्ण आधुनिक शिक्षा का विस्तार जहां पर भी हुआ वहां पर इन मूल्यों का भी विस्तार हुआ। भारत में इनके विस्तार में जो कमी आई उसका प्रमुख कारक यहां के लोक में परम्परागत ज्ञान के प्रति दृढ़ आस्था और जाति व्यवस्था है। दृढ़ आस्था के कारण किसी प्रकार के नये प्रयोगों की संभावनाएं कम हो गईं और एक ही तरह के ज्ञान की प्रधानता रही। बहुलतावादी समाज में ज्ञान की एकरूपता इसलिए रह पाई कि देशी समाज प्राच्य विद्या निष्ठा को प्रमुखता देता था। ज्ञान का बहुलतावादी नहीं होना उसके विकास के लिए घातक सिद्ध हुआ और एक लम्बे समय तक दर्शन में यथास्थिति बनी रही। पश्चिम में कोई नई दार्शनिक स्थापना जब भी आई तब यहां के प्राच्य पक्षधरों ने यह तर्क दिया कि इस तरह का ज्ञान और चिंतन बहुत पहले यहां पर हो चुका है। इस तर्क की पुष्टि के लिए विभिन्न धर्म ग्रंथों से प्रमाण एकत्रित किये गए लेकिन कभी भी इस तरह के समकालीन चिंतन में भारत के लोगों की तरफ से कोई पहल नहीं की गई कि वे विश्व के समक्ष अपने ज्ञान को रखें और लोग उस पर विमर्श करें।

इसका कारण यह था कि यहां की परम्परा में ज्ञान के लोकतांत्रिकरण का स्थान न होकर उसे एक पवित्रता की श्रेणी में रखा गया था। इस शास्त्रीय ज्ञान परम्परा के अतिरिक्त अन्य लोक सृजन परम्परा थी जिसे राज्य, धर्म और समाज द्वारा किसी प्रकार का संरक्षण नहीं मिल पाने के कारण उसका दस्तावेजीकरण नहीं हो पाया। दलित समाज के विकास में स्त्रियों के योगदान को प्राचीन भारत में कहीं रेखांकित नहीं किया गया क्योंकि दस्तावेजीकरण यह श्रमशील समाज जानता ही नहीं था। यह समाज तो सृजनशील था और अपनी स्मृति के आधार पर लोक ज्ञान को व्यवहार के साथ विकसित करता रहता था। इसलिए दलित लड़कियां रटने की शिक्षा पद्धति के पूरे दर्शन से ही असहज हो जाती हैं। उनके परिवेश में इस तरह की कोई परम्परा है ही नहीं। भारत के प्राचीन ज्ञान परम्परा में वे अपने समाज की आवाज को महसूस ही नहीं कर पाती हैं और वह इतिहास उन्हें बहुत अजूबा-सा लगता है।

दूसरे दार्शनिक आधार आधुनिक शिक्षा के हैं जो पूरी तरह से तर्क और विवेक पर आधारित है। हालांकि भारत में उसके कार्यों में भी परम्परा का पर्याप्त मिश्रण होने के कारण उनका स्वरूप बदल जाता है। यह अपनी सुविधानुसार कहीं प्रगतीवादी हो जाती है तो कहीं प्रतिगामी रूप धारण कर लेती है। परम्परागत दार्शनिक आधारों में दलित समाज के इतिहास से अलग होना एक बड़ी चुनौती के रूप में सामने आता है। वहीं आधुनिक शिक्षा के दार्शनिक आधारों में उनका परिवेश ही उन्हें तर्क और विवेक से काम नहीं लेने देता। विशेषकर जब लड़कियों के तर्क किए जाने का संदर्भ आता है तो दलित पितृसत्ता अपनी दृढ़ता को कायम रखती हुई इसके विरोध में आकर डट जाती है। वह किसी भी प्रकार की आधुनिकता को ग्रहण करने को ही अपने लिए खतरा समझती है और इस स्थिति में वह शक्ति संरचना एक सीमा पर जाकर वर्णवादी वर्चस्व के पक्ष में खड़ी हो जाती है। इसी बिंदु पर दलित स्त्री उत्पीड़न के सबसे नीचे की श्रेणी पर स्वयं को महसूस करती है।

परम्परावादी और आधुनिकता के ये दोनों दार्शनिक आधारों में आधुनिकता एक समानता का विकल्प प्रस्तुत करती है और उस विकल्प को प्राप्त करने के लिए शिक्षा नीतियों जैसे दस्तावेज भी तैयार किये जाते हैं। आधुनिक दार्शनिक आधारों की स्थापना इसलिए आवश्यक है क्योंकि ये लोकतंत्र की बुनियाद से संबंधित हैं और कुछ सीमा तक वैज्ञानिक दृष्टिकोण के पक्षधर हैं जबकि परम्परागत आधार काफी दकियानूसी हैं। आधुनिक दार्शनिक आधारों के साथ सबसे बड़ा संकट यह है कि वे सारे चिंतन का केंद्र व्यक्ति को रखते हैं, उसकी परिस्थिति और उत्पादन संबंधों से उसकी स्थिति निर्धारिण को स्वतंत्र मानते हैं। ऐसे में व्यक्ति बेहतर भविष्य का स्वप्न स्वयं से आरंभ करके स्वयं पर ही समाप्त

कर लेते हैं। प्रत्येक का स्वप्न अलग और स्वतंत्र होता है और वह अन्य किसी के स्वप्न के प्रति जवाबदेह नहीं है। इस स्थिति में व्यक्ति की गरीमा और स्वतंत्रता सिद्धांत के बतौर तो बड़ी आकर्षक और लुभावनी लगती हैं लेकिन व्यवहार के स्तर पर ये एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ संबंध का विच्छेद करती है जो अंत में जाकर एक अराजक स्थिति तक पहुंच जाती है या फिर कुछ व्यक्तियों के समूहों में सारी शक्ति का संकेंद्रण हो जाता है।

इस स्थिति में दर्शन के केंद्र में व्यक्ति रह सकता है लेकिन वह किसी समूह की अभिवृत्तियों और प्रवृतियों का प्रतिनिधित्व नहीं करता है। जीवन का सच वैसा ही नहीं हो जैसा केवल मात्र एक व्यक्ति का सच है जबकि जीवन का सच ऐसा हो कि वैसा बहुत से लोगों का सच है और उदाहरण के ठोस रूप में उस व्यक्ति के सच को देखा जा सकता हो। इससे एक सामूहिक वर्गीय अवधारणा का विकास होता है और वह शिक्षा के लिए बहुत आवश्यक है क्योंकि शिक्षण के लक्ष्य तभी सार्थक रूप से तय हो पाते हैं जब बड़े समूह की चुनौतियों को सूक्ष्म रूप से रेखांकित करके आगे बढ़ा जाए।

भारत में दलित लड़कियों की शिक्षा के समुचित प्रयासों को आगे बढ़ाने के लिए इन दार्शनिक आधारों को परिवर्तित करने की आवश्यकता है। समानता और स्वतंत्रता को चिंतन और व्यवहार के क्षेत्र में अपनाना होगा। वर्णवादी वर्चस्व और पितृसत्ता का सम्पूर्ण उन्मूलन ही केवल उपाय है जो दलित स्त्री को उन्मुक्त विकास के अवसर प्रदान कर सकता है लेकिन यह एक लम्बी और जटिल प्रक्रिया है। इसलिए जब तक इन दोनों शोषणकारी संरचनाओं का अंत नहीं होगा तब तक समानांतर नई संरचनाओं के विकास के प्रयास आवश्यक हैं और वह संरचना लोकतांत्रिक मूल्यों के विस्तार की है। इन मूल्यों का विस्तार शिक्षा के माध्यम से विद्यालय और बाहरी परिवेश दोनों की शक्ति संरचनाओं को तोड़कर समानता का एक वातावरण बनायेगा जो स्वतंत्र चिंतन की आधारशिला बनेगा।

दलित लड़कियों की शिक्षा के लिए उनके परिवारों की समझ का विस्तार करने की आवश्यकता है और जरूरी है कि विद्यालय का वातावरण अधिक मानवीय बने। साथ ही, पाठ्यचर्या को उनके परिवेश से जोड़ते हुए वैज्ञानिक व लोकतांत्रिक चिंतन की ओर अग्रसर करने की आवश्यकता है। उनकी नेतृत्व और निर्णय निर्धारण की क्षमता के विकास के लिए अवसरों की अधिकाधिक उपलब्धता हो जिसमें सारे सकारात्मक पक्षों को रेखांकित किया जाये न कि नकारात्मक पक्षों को। शिक्षकों के सेवापूर्व प्रशिक्षण और सेवाकालीन प्रशिक्षणों में जेंडर और जाति को लेकर वैज्ञानिक व लोकतांत्रिक समझ का विकास किया जाए। तभी यह उम्मीद की जा सकती है कि शिक्षा दलित लड़कियों के लिए अवसर की समानता व विकल्प का रास्ता खोले। ◆

**लेखक परिचय :** 'कोकिलाशास्त्र', 'दूजी मीरा'(कहानी संग्रह), 'अन्ना से अरविंद तक'(संपादित लेखों का संग्रह), राजस्थानी में एक बाल कहानी संग्रह प्रकाशित साथ ही विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेख एवं कहानियां प्रकाशित। वर्तमान में राजस्थान विश्वविद्यालय के राजनीति विज्ञान विभाग में *'भारतीय राजनीति में दलित स्त्रीवाद-एक विश्लेषणात्मक अध्ययन'* विषय पर शोधरत।

**संपर्क :** 9116038790; skmeel@gmail.com

# परीक्षा परिणामों में व्याप्त पूर्वाग्रह

**ऋषभ कुमार मिश्र**

विद्यालयी शिक्षा के आदर्श रूप में एक ऐसे विद्यालय की कल्पना हैं जहां ‘शिक्षा’ के द्वारा एक सचेत नागरिक को ‘तैयार‘ किया जाता है। ‘तैयारी’ की इस मान्यता का प्रभाव इतना व्यापक हो चुका है कि व्यक्ति, प्ले स्कूल से प्रारंभ करके ‘नौकरी’ के पूर्व तक ‘विद्यार्थी’ की पहचान के साथ अपनी उम्र का लगभग एक चौथाई हिस्सा गुजार देता है। कहने को तो इस दौरान वह ‘ज्ञान’ की खोज में लगा रहता है लेकिन वास्तविकता यह है कि वह जीविका, सामाजिक पहचान, सामाजिक स्वीकृति के लिए खुद को तैयार करता है। जानना, सीखना और सर्जन जैसी क्रियाएं स्वयं साध्य होने के बदले इन लक्ष्यों की प्राप्ति का साधन बन चुकी हैं। इनका साध्य वह प्रमाणपत्र है जो तथाकथित वस्तुनिष्ठ, विश्वसनीय और वैध परीक्षा को पास करने के बाद प्राप्त होता है। इस तरह से औपचारिक शिक्षा एक ऐसी फैक्ट्री बन जाती है जो चयन, छंटाई और सफलता की मुहर द्वारा अंतिम उत्पाद को ‘सामाजिक प्राणी’ के रूप में समाज को वापस सौंपता है। यह छंटाई आपकी विशिष्ट योग्यता और क्षमता को उभारने के बजाए सफलता और असफलता का ठप्पा लगाती है। इस संदर्भ में विचारणीय है कि यह किसे सफल घोषित कर रही है और किसे असफल घोषित कर रही है? इसे बोर्ड परीक्षा परिणामों के सापेक्ष समझने की कोशिश करते हैं।

हर वर्ष मई-जून माह में दसवीं और बारहवीं की बोर्ड परीक्षाओं के परिणाम आते हैं। इन परिणामों की घोषणा के साथ तरह-तरह के आंकड़े और व्याख्याएं आने लगती हैं। ये व्याख्याएं न केवल विद्यार्थियों की सफलता और असफलता के बारे बताती हैं बल्कि विद्यालयी व्यवस्था के विषय में कुछ धारणाएं पैदा करती हैं। ये व्याख्याएं निजी बनाम सरकारी, लड़का बनाम लड़की, शहरी बनाम ग्रामीण के वर्ग विभाजन में परीक्षा परिणाम को प्रस्तुत करती हैं। विद्यार्थियों के जेंडर, विद्यालय, परिवार और राज्य व क्षेत्र आदि के सापेक्ष यह वर्गीकरण एक वर्ग को दूसरे के प्रतियोगी के रूप में खड़ा कर देता है। इस तरह की प्रस्तुति में सामाजिक सच्चाई के कई पहलू छुप जाते हैं। केवल अपवादों और विरोधाभासों को प्रतिष्ठित किया जाता है।

वस्तुतः परीक्षा परिणामों में जेंडर, वर्ग, क्षेत्र और भाषा का अन्तराल अवसरों की असमानता का परिणाम है। इसे समझने के लिए ‘अच्छे‘ परीक्षा परिणाम की व्यवस्थाजन्य शर्तों पर विचार करते हैं। हम परीक्षा परिणामों को सीधे तौर पर सीखे हुए ज्ञान का आकलन मान लेते हैं। वास्तविकता यह है कि परीक्षा में अच्छे अंक लाना एक सशर्त और यांत्रिक प्रक्रिया का परिणाम है। इसमें पढ़ाई के घण्टों की अधिकता, खेल और अन्य मनोरंजन गतिविधियों में न्यूनतम भागीदारी, समय सारिणी आदि के द्वारा कठोर अनुशासन का पालन, परीक्षात्मक युक्तियों जैसे-लेखन शैली, प्रश्नोत्तर का अभ्यास आदि की दक्षता का विकास शामिल है। इन शर्तों को पूरा करने का दायित्व विद्यार्थी, अभिभावक, शिक्षक और विद्यालय प्रशासन का होता है। विद्यार्थी से अपेक्षा होती है कि वह कक्षा में नियमित उपस्थित रहे, दिए गये कक्षा और गृह कार्यों को करे, स्मृति की धारण शक्ति को बढ़ाये। समय-समय पर होने वाली मासिक या त्रैमासिक परीक्षाओं में सत्रांत परीक्षा के लिए

अभ्यास करें। अध्यापक से अपेक्षा होती है कि वे अपने शिक्षण को परीक्षा केंद्रित बनाये। चूंकि जिज्ञासा और रोचकता आदि का परीक्षा से कोई सीधा संबंध नहीं है इसलिए वह अच्छे अंक के लिए परीक्षा का चक्रव्यूह भेदने की हर रणनीति का अभ्यास भी सुनिश्चित करवाए। पाठ्यपुस्तक के अलावा सहायक पुस्तकों आदि के द्वारा संभावित विषयों और प्रश्नों को रटवाये। अच्छे अंक पाने की अपरिभाषित कसौटियों जैसे-सुंदर और स्वच्छ लेखन, उद्धरणों के प्रयोग, कई रंग की स्याही से लिखने आदि के महत्व पर प्रकाश डाले। अभिभावकों से अपेक्षा होती है कि वे बच्चे की स्कूल आने-जाने में नियमितता की बाधाओं को समाप्त करें, घर पर संसाधन जैसे-समय, कोचिंग, मॉनीटरिंग आदि उपलब्ध कराएं और परीक्षा की तैयारी की समस्त लागतों का वहन करें। विद्यालय से अपेक्षा की जाती है कि उसकी समग्र अधिगम संस्कृति विद्यार्थियों को तनाव मुक्त रखते हुए परीक्षा का सामना करने के लिए तैयार करे। विद्यालय से अपेक्षा है कि वह अभिभावक, शिक्षक और विद्यार्थी के बीच परीक्षा को लेकर व्यूह रचना की निगरानी करता रहे। इनके बीच संतुलन को कायम रखे। अच्छे परीक्षा परिणाम की उक्त मशीनी शर्तो के सुचारू संचालन से ही परीक्षा में सफलता का परिष्कृत उत्पाद तैयार होता है। यदि कोई भी भागीदार उक्त अपेक्षाओं की भूमिका पर खरा नहीं उतरता तो विद्यार्थी के परीक्षा परिणाम पर असफलता का ठप्पा लगा दिया जाता है। असफलता का यह ठप्पा सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों को किनारे रखते हुए विद्यार्थी की संज्ञानात्मक अक्षमता को असफलता का कारण सिद्ध करता है। एक जैसे ज्ञान से युक्त उत्पादों को तैयार करने में यह व्यवस्था इतनी तल्लीन है कि वह भूल जाती है संज्ञानात्मक क्षमताएं भी एक न होकर अनेक हैं। हॉवर्ड गॉर्डनर की शब्दावली की मदद से कहूं तो गणितीय बुद्धि, भाषिक बुद्धि जैसे पक्षों की हम सराहना करते हैं लेकिन संगीत-बुद्धि, शरीरगतिकी बुद्धि आदि न तो प्रतिष्ठित है और न ही विद्यालय के ज्ञान-पैकेज का हिस्सा। इसके अलावा यह भी उल्लेखनीय तथ्य है कि सीखना, संस्कृति स्पंदित होता है। यदि शिक्षण और आकलन सीखने वाले के शैक्षिक संदर्भ को संज्ञान में नहीं लेते तो शिक्षार्थी के असफल होने की संभावना बढ़ जाती है। इन अंतरालों के कारण शिक्षा के द्वारा 'उत्पादों' के सर्जन के बजाय विसर्जन की दर अधिक हो जाती है। यह विसर्जन प्रच्छन्न रूप से हर विद्यालय और हर सामाजिक वर्ग की सच्चाई बन चुका है। अक्सर हम मानते हैं कि जिन बच्चों को सामाजिक पृष्ठभूमि के कारण सीखने के लिए अपेक्षित संज्ञानात्मक क्षमता, संसाधन, सहयोग, अभिप्रेरणा और मार्गदर्शन मिल रहा है वहां विसर्जन की संभावना न्यूनतम होगी। वहां भी परीक्षा प्रणाली लगातार छंटाई और विसर्जन का कार्य कर रही है। उदाहरण के लिए सी.बी.एस.ई. और आई.सी.एस.ई. बोर्ड से संबंधित विद्यालय तथाकथित आदर्श विद्यालयी शिक्षा व्यवस्था के समीप हैं। ये विद्यालय अधिकांशतः नगरीय केन्द्रों में स्थापित हैं। यदि वे किसी दूर-दराज के क्षेत्र में स्थापित हैं तो इनका संचालन निजी प्रबंधन के हाथ में हैं। इसी तरह के अनेक विद्यालय केन्द्र सरकार के कर्मचारियों के बच्चों के लिए हैं। जवाहर नवोदय विद्यालय भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं जो ग्रामीण क्षेत्र के प्रतिभाशाली बच्चों के लिए हैं। इन विद्यालयों से संबंधित अभिभावक विद्यालय की इच्छानुसार शुल्क चुकाने, संसाधन जुटाने, यहां तक कि वैकल्पिक और पूरक सुविधाओं के रूप में ट्यूशन आदि उपलब्ध करवाने में समर्थ हैं। परिवार में विद्यार्थियों को 'शिक्षित समाज' मिलता है। राज्य ने भी अध्यापकों और अन्य संसाधनों सहित इन विद्यालयों की निगरानी में कोई कोर कसर नहीं छोड़ रखी है। अब इन विद्यालयों में उत्तीर्ण विद्यार्थियों के प्रतिशत को संज्ञान में लीजिए। सी.बी.एस.ई. द्वारा आयोजित परीक्षा में 88 प्रतिशत विद्यार्थी उत्तीर्ण हुए। इसी तरह आई.सी.एस.ई. द्वारा आयोजित परीक्षा में लगभग 90 प्रतिशत विद्यार्थी उत्तीर्ण हुए। ध्यान देने योग्य बात यह है कि इनमें से कोई न तो गरीब था, न पढ़ाई की दृष्टि से कमजोर और न ही कोई ऐसा जिसे घर में विद्यालयी शिक्षा के लिए आवश्यक सामाजिक और सांस्कृतिक पूंजी का अभाव हो। इस आदर्श स्थिति के बावजूद प्रथम दृष्टया 10-12 प्रतिशत विद्यार्थियों को शिक्षा व्यवस्था ने बाहर का रास्ता दिखा दिया। जो विद्यार्थी उत्तीर्ण हुए हैं उनमें अगला संघर्ष उच्च शिक्षा के लिए अच्छे संस्थानों में प्रवेश के लिए होगा। अधिकांश महाविद्यालयों में प्रवेश बोर्ड परीक्षा के प्राप्तांकों के आधार पर दिए जाते हैं। हाल के कुछ वर्षों में श्रेष्ठ कहे जाने वाले संस्थानों के 'कट-ऑफ' का मुआयना कीजिए। ये लगातार बढ़ती जा रही है। हालात तो ये हैं कि 90 प्रतिशत से कम अंक पाने वाले विद्यार्थियों का प्रवेश किसी 'अच्छे' कहे जाने वाले कालेज में नहीं हो पाता है। कुल उत्तीर्ण विद्यार्थियों के 20 प्रतिशत विद्यार्थियों का प्रवेश ही इन संस्थानों में हो पाता है। सवाल यह है कि शेष विद्यार्थी कहां जाते हैं? इन विद्यार्थियों के संदर्भ में गरीबी या गुणवत्ताविहीन शिक्षा का तर्क

भी नहीं दिया जा सकता है। विद्यालयी शिक्षा की ढांचागत समस्याएं इन विद्यार्थियों को दोयम दर्जे पर खड़ा कर देती हैं। ढांचागत समस्या से अभिप्राय है कि हम केवल प्रवेश और उसके बाद परीक्षा के लिए चिंतित होते हैं। इन दो समय बिंदुओं के बीच विद्यार्थी को सीखने, स्वयं को जानने और खोजने के कैसे अवसर उपलब्ध हैं? उसे अपनी अभिक्षमताओं और रुचियों को जानने के लिए कैसे समर्थ बनाया जा रहा है? कैसे विज्ञान, गणित और अंग्रेजी के इतर विषयों को भी संभावनाओं के केन्द्र में रखा जाएगा? जैसे प्रश्न किसी भी भागीदार द्वारा नहीं उठाए जाते हैं।

यदि इस मध्यमवर्गीय विद्यालयी व्यवस्था के बाहर निकलकर उन सरकारी और निजी विद्यालयों पर ध्यान केन्द्रित करें जहां नगरीय गरीबों और गांव में रहने वाले किसानों के बच्चे जाते हैं तो बहुस्तरीय विद्यालयी व्यवस्था द्वारा किए जा रहे विसर्जन के कुछ और पक्ष सामने आते हैं। सरकार ऐसे विद्यालयों में अध्यापक, भवन, पुस्तकें और अन्य अधिगम संसाधन उपलब्ध कराने के दावे के साथ स्वयं को पाक-साफ घोषित कर देती है। शिक्षक अपनी नियमितता और पाठ्यक्रम को पूरा करने के प्रमाणों को प्रस्तुत कर अपनी कर्मठता सिद्ध करते हैं। अभिभावक निजी और महंगे विद्यालयों में भेज सकने की क्रयशक्ति के अभाव को अपनी लाचारी बताते हुए भाग्य भरोसे बैठ जाते हैं। इस व्यवस्था में पुनः ढांचागत पहुलओं को समझने की जरूरत है। विद्यार्थी को क्या सीखना है? इसका निर्धारण उसे केन्द्र में रखकर नहीं किया जाता बल्कि एक सार्वभौमिक पैमाने को लागू करके हम मान लेते हैं कि विद्यालय में विद्यार्थी एक अपेक्षित ज्ञान राशि को सीख लेगा। इस प्रक्रिया में दो सवाल छूट जाते हैं। प्रथम, विद्यालय के बाहर की दुनिया में विद्यार्थी किन ज्ञान, कुशलताओं और भाषा को ग्रहण कर रहा है? दूसरे, घर पर उसे विद्यालय में सफलता के लिए किस प्रकार के संसाधन, समय और पूरक सुविधाएं मिल रही हैं? विडंबना यह है कि इन परिस्थितियों को दरकिनार करते हुए परीक्षा परिणामों की शुचिता का संकेतक विद्यार्थियों की असफलता को बताया जाता है। इस तरह शिक्षा द्वारा विसर्जन को औचित्यपूर्ण ठहरा दिया जाता है। हमारे आस-पास असंगठित क्षेत्रों का अधिकांश कार्यबल जिसमें रिक्शे वाले, ठेलेवाले, ऑटो चालक, खोमचे वाले आदि आते हैं इसी शिक्षा व्यवस्था के द्वारा 'असफल' घोषित कर दिए गए उत्पाद हैं। हमारी बहुस्तरीय विद्यालयी व्यवस्था 'मेरिट' के आधार पर 'मक्खन' का चुनाव कर उसमें से 'घी' निकालने का यत्न करती है लेकिन विचारणीय है कि 'मेरिट' को कौन परिभाषित कर रहा है? किस लक्ष्य से परिभाषित कर रहा है? ये लक्ष्य किसके पक्ष में हैं?

ये लक्ष्य संसाधन संपन्न वर्ग के पक्ष में है। संसाधन संपन्नता परीक्षा में सफलता के माध्यम से शिक्षा के लाभों तक पहुंच सुनिश्चित कर रही है। लेख के आरंभ में परीक्षा-फ्रेम की चर्चा की गयी थी। संसाधन संपन्न वर्ग के फ्रेम के चारों आधार (विद्यार्थी, अभिभावक, शिक्षक और विद्यालय) परीक्षा के मानकों पर खरा उतरते हैं। यदि इनमें से कोई आधार कमजोर पड़ता है तो उक्त भागीदारों द्वारा उसकी क्षतिपूर्ती करने की व्यवस्था की जाती है। उदाहरण के लिए यदि अभिभावक घर पर बच्चे की मदद नहीं कर सकता तो ट्यूशन का इंतजाम कर देता है। विद्यालय बच्चे पर अधिक दबाव का मुकाबला करने के लिए काउंसलिंग आदि की व्यवस्था कर देता है। जबकि सरकारी स्कूल के विद्यार्थियों के संदर्भ में क्षतिपूर्ति का कोई उपाय नहीं होता। यदि बच्चे को घर के कामों में हाथ बंटाना है तो उसकी पढ़ाई के घण्टे कम होंगे, अभिभावक अपेक्षित संसाधन नहीं दे पायेंगे तो बच्चे को केवल विद्यालय के ऊपर निर्भर रहना पड़ेगा। ऐसी स्थितियों में विद्यार्थी के परीक्षा परिणाम अपेक्षानुरूप कैसे आएगें? अंततः परीक्षा परिणाम संसाधन संपन्न वर्ग के पक्ष में जाएगे। क्यों न जाए? हमने जिस शिक्षा व्यवस्था को विकसित किया है वह शिक्षित, नगरीय, मध्यमवर्गीय और पुरुषप्रधान समूह की सामाजिक और सांस्कृतिक पूंजी से संचालित होती है। ये परिवार अपने बच्चों को साक्षरता के विस्तृत और बहुआयामी अनुभव उपलब्ध कराते हैं। चाहे लेखन शैली में नये शब्दों का प्रयोग हो या वाक्य विन्यास व लिखावट आदि में परिष्करण, विज्ञान या गणित की साक्षरता के लिए जागरूकता हो या सामान्य ज्ञान का अख़बार या अन्य प्रिंट माध्यमों से समृद्ध होना, ये सब संपन्न परिवारों के रोजमर्रा की जिंदगी का हिस्सा है। ऐसे विद्यार्थी जिनके विद्यालय और घर पर प्रिंट माध्यम के नाम पर केवल स्कूल की पाठ्यपुस्तक हैं, मार्गदर्शन के लिए केवल शिक्षक हैं और परीक्षोन्मुख तैयारी के लिए कोई अन्य सहयोग नहीं है वे स्वाभाविक रूप से निबंध, आलोचना, जीवनी, गुण-दोष, आदि के सवालों में भाषायी सीमा के कारण पीछे रह जाएगें। उनमें विज्ञान वर्ग के विषयों के प्रति आकर्षण होगा

लेकिन उन्हें पढ़ाने और उनकी परीक्षा की पद्धति उनके अनुभवों को संज्ञान में नहीं लेगी। वे अंग्रेजी को 'हिन्दी' में पढ़ेगें। अन्ततः उनकी यह संसाधन हीनता परीक्षा परिणाम में परिलक्षित होगी और इस तरह के लक्षणों वाला पूरा समूह सफलता के पैमाने पर पीछे रह जाएगा। इसके अलावा संसाधन-संपन्नता एक अन्य प्रच्छन्न लाभ सुनिश्चित करती है। अमूमन मनोविज्ञान का हवाला देते हुए परीक्षा के सवालों को हम वस्तुनिष्ठ तरीके से ज्ञान की परीक्षा लेने का माध्यम मान लेते हैं। इन प्रश्नों में ऐसे संतुलन की परिकल्पना करते हैं जहां कठिनाई स्तर औसत होती है और स्मृति, बोध और अनुप्रयोग आदि प्रकार के प्रश्नों में संतुलन होता है। यह व्याख्या अधूरी है। सवाल पूछा जाना चाहिए कि परीक्षा के सवाल किस समाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक वर्ग के लोगों ने बनाए हैं? इसका कारण यह है कि प्राश्निक ही तय करता है कि प्रश्नों का उत्तर क्या होगा। ऐसी दशा में वे अपने वैयक्तिक संदर्भ और अधिमान के आधार पर तय करते हैं कि किस सवाल को परीक्षा में पूछा जाए और उसका अपेक्षित उत्तर क्या होगा। ये सवाल न चाहते हुए भी उन विद्यार्थियों के पक्ष में होते हैं जो प्राश्निक की पृष्ठभूमि से संबंधित होते हैं।

स्पष्ट है कि हमारी शिक्षा व्यवस्था ने परीक्षा प्रणाली द्वारा श्रेष्ठ और गैर श्रेष्ठ में भेदभाव करने की प्रवृत्ति को छोड़ा नहीं है। यह प्रवृत्ति इतनी गहरी है कि आकलन के तरीकों में सुधार करके विद्यार्थियों की क्षमताओं में विविधता मापने के बजाय हम वहां भी विभेद पैदा कर देते हैं। तभी तो जिस प्रकार की परीक्षा प्रणाली से हम गुजरते हैं वह तो केवल यह बताती है कि एक चुनी हुयी ज्ञान राशि में से विद्यार्थी ने कितना ग्रहण किया। इस ग्रहण किए ज्ञान को अभिरुचि, अभिवृत्ति और अभिक्षमता जैसे मनोवैज्ञानिक गुणों का समानार्थी मान लेना और इसके आधार पर विद्यार्थी को सामाजिक और वृत्तिक पहचान प्रदान करना हमारी शिक्षा व्यवस्था का स्थायी संकट है। इसे सीखने के नकारात्मक पुनर्बलन के रूप में प्रयुक्त करना एक आम चलन है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि पढाई, परीक्षा की तैयारी के समतुल्य हो गयी है। इस समतुल्यता को शिक्षक, अभिभावक और विद्यार्थी सभी ने स्वीकार लिया है। ऐसी स्थिति में विद्यार्थी की पहचान दो अंकों में सिमट के रह जाती है। तीन अंक तक पहुंचना तो ब्रह्म प्राप्ति के समान है! ऐसी प्रवृत्तियों के बदले हमें विद्यार्थी रूपी व्यक्ति का आकलन उसकी विशिष्टताओं और सीमाओं के सापेक्ष करना चाहिए। हमें इस भ्रम से मुक्त होना होगा कि अकादमिक उपाधियां और भावी भविष्य एक दूसरे के पूरक है। हमें आश्वस्त होना चाहिए कि हर विद्यार्थी में कुछ न कुछ विशिष्ट योग्यताएं और क्षमताएं अवश्य हैं। यह संभव है कि ये क्षमताएं लोकप्रिय व्यवसायों जैसे- डॉक्टर, इंजीनियर आदि के लिए अपेक्षित योग्यताओं के अनुरूप न हों लेकिन यह भी असंभव है कि कोई विद्यार्थी 'असफल' हो। न तो श्रेष्ठता का कोई एक सार्वभौमिक और सर्वसिद्ध पैमाना है और न ही सभी 'श्रेष्ठता' के एक सांचे में ढाले जा सकते हैं। हम सबकी अपनी-अपनी दुनिया है और अरमान हैं। हमें इसे जीने और करने का मौका मिलना चाहिए। शिक्षा इस लक्ष्य में हमारी ताकत बने न कि परीक्षा के बहाने ऐसा रोड़ा जो 'पूर्णांक' की दौड़ में सीखने के आनंद को गौण सिद्ध कर दे। ◆

**लेखक परिचय :** सहायक प्रोफेसर, शिक्षा विभाग, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा।

**संपर्क :** 7057392903; rishabhrkm@gmail.com

# ज्ञानोदय और शिक्षा की भारतीय अवधारणा

**राजाराम भादू**

भारत का ज्ञानोदय कोई परिभाषित और प्रतिस्थापित परिघटना नहीं है। यह एक विचार है, जिसे प्रामाणिकता और क्रमिकता की दरकार है। बेशक यह विचारणा अपने अतीत के पुनरावलोकन और किसी हद तक पुनर्संधान के लिए उत्प्रेरक है। कहा जाता है कि विश्व में भारत ज्ञान का एक बड़ा केंद्र रहा है। इसे 'विश्व गुरु' जैसे संबोधनों से भी अभिहित किया जाता है। भारत को ज्ञान केंद्र क्लासिकी समृद्धि के संदर्भ में कहा जाता है। प्राचीनता से ज्ञान का कोई गुणात्मक संबंध हो सकता है, इसे लेकर तो अकादमिक क्षेत्र में संदेह रहा है। क्लासिकी के मामले में जरूर भारत बाद की यूनानी सभ्यता से टक्कर में ठहरता है। रोमन सभ्यता तो कमोबेश अंधकार में ही रही। अरब के कुछ आविष्कार निश्चय ही अभूतपूर्व थे। लेकिन, ग्रीक साहित्य की तुलना में भारतीय प्राचीन भाषाओं का साहित्य शायद ही कमतर ठहरता है।

अब इसे लेकर एक दूसरा प्रश्न उठता है। क्या ज्ञान का होना मात्र अहम है अथवा समाज में उसका प्रचलन हो, तभी इसे अहमियत दी जानी चाहिए। समाज में ज्ञान की प्रयुक्ति को सभ्यता का एक मापदंड मानें तो भारत के संदर्भ में निराशा दिखाई देती है। इस महाद्वीप का एक बड़ा हिस्सा उस ज्ञान के आलोक से वंचित रहा है। कहा जा सकता है कि ग्रीक सभ्यता में भी दास समुदाय ज्ञान की परिधि से परे रहने के लिए अभिशप्त था। सही है, किंतु ग्रीक की राज्य व्यवस्था और नागरिक समाज में उस ज्ञान के अनुप्रयोग परिलक्षित हैं। कहने को भारत में भी गणराज्यों के अस्तित्व की बात की जाती है।

इस सदंर्भ में ज्ञान के पीढ़ीगत संतरण की संस्थायी प्रणाली की अनुपस्थिति भी भारतीय संदर्भ में एक चिंताजनक पहलू है। नालंदा, तक्षशिला और उज्जयिनी आदि विश्वविद्यालयों का उल्लेख मिलता है, लेकिन ये शृंखला बहुत आगे नहीं जाती। कई लंबे ज्ञात कालखंडों में हम ज्ञान-राशियों को केंद्रीकृत और संचित, किंतु अप्रयुक्त पाते हैं। व्यापक समुदाय उससे वंचित बने रहते हैं।

बहरहाल, हम निकट अतीत में ज्ञानोदय की प्रक्रिया पर नजर डालें। इसमें एक दौर वह है जिसे भारतीय नवजागरण कहा जाता है। कहना न होगा कि यह यूरोपीय पुनर्जागरण का ही भारत के संदर्भ में किया गया सूत्रीकरण है। दूसरा दौर स्वातंत्र्योत्तर भारत में ज्ञान के व्यवस्थिकीकरण और संस्थाकरण की प्रक्रियाएं हैं। इस समग्र परिघटना के कई संस्तर व श्रेणी भेद हैं जिनके विस्तार में जाना हमारा अभिप्रेत नहीं है।

हम यहां कुछ सामान्य प्रतीतियों (इम्प्रेशंस) का उल्लेख करना चाहेंगे। यदि प्रस्थान बिंदु मानना जरूरी है, तो 1857 के जन-विद्रोह को माना जा सकता है। इसके बाद भारत में ज्ञान के पुनर्संधान की दो स्तरों पर क्रमिक और उत्तरोत्तर गतिमान प्रक्रिया शुरू हुई, यह प्रक्रिया एक स्तर पर तो औपनिवेशक थी, जिसके अंतर्गत पाश्चात्य प्रशासकों, अध्येताओं, नृतत्वशास्त्रियों और भाषाविदों ने भारतीय ज्ञान-राशियों और जन-जीवन को समझना और व्याख्यायित करना शुरू किया। निश्चय ही इसके पीछे औपनिवेशिक हित और अभिप्राय थे। कलकत्ता की एशियाटिक सोसायटी के ऑरिएंटल अध्ययनों को इसके उदाहरण के तौर पर देखा जा

सकता है। इसी सारणी में भारतीय अध्ययनों के कुछ और उपक्रमों को ले सकते हैं, जिनकी दृष्टि औपनिवेशक आग्रहों से भिन्न थी, जैसे कार्लमार्क्स के भारत विषयक नोट्स।

दूसरे स्तर पर खुद भारतीयों द्वारा अपने अतीत और इसकी विरासत के रूप में प्रदत्त ज्ञान-राशियों का पुनर्संधान और विवेचन-विश्लेषण है। इसे भी हम दो तरह से घटित होते देखते हैं। एक में तो ऐसे गौरवशाली भारत की खोज है, जो स्वयं उद्दीप्त है। दूसरी तरह के प्रयासों में यूरोपीय रिनेसां से ग्रहण की गई प्रेरणाएं और तुलनाएं भी सम्मिलित हैं। ये प्रक्रिया भी भिन्न-भिन्न मंतव्यों से परिचालित है। इसका कुछ हिस्सा तो ब्रिटिश सत्ता द्वारा संचालित प्रक्रिया का अनुषंगी बन जाता है, जबकि इसका व्यापक हिस्सा उपनिवेश विरोधी प्रतिरोध के लिए ज्ञान आधारित दृष्टि और रणनीति तैयार करता है। अपनी आगे की फलश्रुतियों में हम शांतिनिकेतन, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय और अन्यान्य ज्ञान केंद्रों को संस्थाबद्ध होते देखते हैं। यह क्रम स्वातंत्र्य संघर्ष के समानांतर बढ़ता चला जाता है।

## स्वतंत्र भारत में आधुनिक शिक्षा

आधुनिक शिक्षा का विकास जनतांत्रिक राज्य की अवधारणा से संबद्ध है, किंतु औपनिवेशिक राज्यों में आधुनिक शिक्षा का एक नितांत भिन्न रूप प्रचलित रहा, जो शासितों का शासक वर्गो के हितों के अनुरूप अनुकूलन करता रहा। भारत में स्वतंत्रता के बाद राज्य के जनतांत्रिक स्वरूप को अपनाने के साथ शिक्षा को पुनर्परिभाषित करने के प्रयास आरंभ हुए। उपनिवेशकालीन मैकाले की जिस शिक्षा प्रणाली को निरंतर कोसा जाता रहा है, वह मुख्यधारा शिक्षा के रूप में बरकरार है। उसकी वैकल्पिक धारा इतनी क्षीण है कि उसे धारा कहना तक कठिन लगता है।

भारत में जनतांत्रिक शासन प्रणाली का मॉडल पश्चिम से लिया गया। पश्चिम में इस मॉडल का विकास शताब्दियों के संघर्ष के बाद हुआ था। इस संघर्ष के दौरान ही आधुनिक शिक्षा का उद्भव और विकास हुआ। भारत में स्वातंत्र्य-संघर्ष का सचेतन काल एक शताब्दी से अधिक नहीं है। इसके साथ शिक्षा को लेकर जो सुधारवादी-प्रसारवादी मुहिम चली थी, उसमें प्राचीन देशज प्रणाली के पुनरुत्थान की आकांक्षा भी शामिल थी। स्वतंत्रता के उपरांत शिक्षा प्रणाली के 'अन-उपनिवेशीकरण' (डि-कॉलोनाइजेशन) के लिए ठोस और दीर्घकालीन प्रयास नहीं हुए, बल्कि शिक्षित मध्यवर्ग ने शैक्षिक यथास्थिति को बनाए रखने में मदद की, यदि कुछ किया तो इसके और 'पाश्चात्यकरण' (वेस्टर्नाइजेशन) का उपक्रम किया, जो इसकी औपनिवेशिक मानसिकता एवं निहित स्वार्थों के पक्ष में था, फलतः शिक्षा आतंरिक उपनिवेशन का माध्यम बन गई।

सही मायने में आधुनिक शिक्षा और विशेषकर इसके प्रारंभिक चरण की समाज के निचले तबके तक पहुंच शासन की समस्त प्रक्रियाओं के जनतांत्रीकरण के बिना संभव नहीं हो सकती। हम देखते हैं कि एक तरफ प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण का संवैधानिक संकल्प दशक-दर-दशक टलता रहा, तो दूसरी ओर जनतांत्रिक विकेंद्रीकरण को तृणमूल स्तर तक सुनिश्चित करने वाली प्रणाली-पंचायती-राज को संवैधानिक दर्जा मिलने में कई दशक बीत गए। फलतः भारतीय विषमतामूलक समाज में विद्यमान दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक और स्त्रियों की स्थिति न केवल विकास की प्रक्रिया में हाशिए पर रही, बल्कि शिक्षा से भी ये तबके सामान्यतः वंचित ही रहे। यह स्वाभाविक ही था कि अपनी निरक्षरता के चलते मतदान करने के अलावा इन समुदायों की और कोई जनतांत्रिक भूमिका कल्पनातीत ही होती, यही वास्तविकता भी थी।

विगत स्वातंत्र्योत्तर अर्द्धशताब्दी में सामाजिक बदलाव को लेकर चले आंदोलनों की गति काफी मंथर रही है। राजनीतिक दल भी जन-शिक्षण की भूमिका से विरत होते गए हैं, जबकि यह सच्चाई है कि परिवर्तन की प्रक्रिया न केवल शिक्षा के प्रसार को गति देती है, बल्कि शिक्षा की पद्धति और विषयवस्तु को भी गुणात्मक रूप से प्रभावित करती है। दक्षिण भारत और उत्तर भारत में शिक्षा की प्रस्थिति का भेद इन क्षेत्रों के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को भी व्यक्त करता है। उत्तर भारत में समाज सुधार के आंदोलनों की दक्षिण जैसी बयार नहीं बही। सामाजिक परिवर्तन के आंदोलन जन-समाजों का सशक्तिकरण करते हैं, सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रियाओं में उनकी हिस्सेदारी बढ़ाते हैं और उनकी अभिव्यक्ति को मुखर करते हैं। शैक्षिक यथास्थिति का वस्तुपरक विश्लेषण किए बगैर और इसके निहितार्थों को उजागर किए बिना किसी ठोस बदलाव की कल्पना मुमकिन नहीं है। इस आलोचना का एक दार्शनिक आधार है, इसलिए वस्तुस्थिति की

विश्लेषण प्रक्रिया से भी हम शिक्षा के वैकल्पिक स्वरूप के सूत्र निकलते देख सकते हैं। यह सही है कि इन सूत्रों को लेकर बहुत आगे नहीं जाया जा सकता, इसके लिए समूचे शैक्षिक प्रतिमानों में ही बदलाव (पैराडाइम शिट) अपेक्षित होगा। इस प्रसंग में स्कूल की संस्कृति, शिक्षक की भूमिका, पाठ्यचर्या और पाठ्यसामग्री, पूरक-पुस्तकों, बाल-साहित्य और शिक्षण-विधियों पर विचार किया जाना चाहिए। इस विमर्श में विभिन्न शैक्षिक नवाचारों और प्रयोगों की सीख भी शामिल हो।

अंततः कोई भी शैक्षिक सुधार निरपेक्षतः न तो लागू ही किया जा सकता है और न सफलतापूर्वक क्रियान्वित। इसके लिए बहुआयामी सामाजिक-सांस्कृतिक उन्नयन प्रक्रियाओं का सबंलन आवश्यक है। तद्नंतर शिक्षा इन्हें उत्प्रेरण प्रदान करती है। उदाहरण के लिए लैंगिक विभेद और कठोर पितृसत्तात्मकता के रहते बालिका-शिक्षा को बढ़ावा मिलना असंभव है। अतएव संवैधानिक और संसाधनात्मक प्रावधानों के बावजूद व्यापक सामाजिक सहभागिता के बिना प्रारंभिक शिक्षा की व्यापक पहुंच सुनिश्चित नहीं हो सकती। शिक्षा सर्वप्रथम सांस्कृतिक संतरण और परिष्करण की प्रक्रिया है, इसलिए यदि इसका एक आयाम सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों से संबद्ध है, तो दूसरे की जड़ें स्थानीय जमीन में होती हैं। यही समझ शायद शिक्षा की देशज प्रकृति के विकास एवं उसके ऊर्ध्वगामी और क्षैतिजिक विस्तार का प्रस्थान-बिंदु हो सकती है।

## शैक्षिक नवाचार

भारत, विशेषकर उत्तर भारत में स्वतंत्रता के 62 वर्ष बाद भी जाति-विभेद, लैंगिक विषमता और सांप्रदायिकता की प्रवृत्तियां विद्यमान हैं, यह चिंता का विषय है। विडंबना यह है कि शिक्षित माना जाने वाला समुदाय भी इन प्रवृत्तियों से मुक्त नहीं है। इसलिए शिक्षा प्रणाली और जन-शिक्षण की परियोजना का प्रश्नित होना स्वाभाविक है। मुख्यधारा शिक्षा प्रणाली की तो अक्सर इस आधार पर आलोचना होती रही है कि इसके औपनिवेशिक चरित्र में मूलभूत बदलाव नहीं आया। उसकी जगह आंतरिक उपनिवेशन की नव-ब्राह्मणी संरचना ने ले ली। निम्न कही जाने वाली जातियां, आदिवासी, अल्पसंख्यक, बच्चे, विशेषकर बालिकाएं काफी संख्या में इस तंत्र से बाहर ही रहे, जो इसमें समाविष्ट भी हुए, वे भी प्रणाली में अंतर्निहित विभेद के चलते अपने को अलगाया हुआ अनुभव करते रहे। सवर्ण वर्गों का सामंती नजरिया बदल पाने में भी यह प्रणाली कारगर नहीं हुई। मुख्यधारा शिक्षा प्रणाली की आलोचना का सार यह है कि इसकी संरचना और अंतर्वस्तु का जनतांत्रिकरण संभव नहीं हुआ है। मुख्यधारा शिक्षा प्रणाली के समानांतर जो शैक्षिक नवाचार हुए हैं, उनके प्रभावों ने निश्चय ही इसके ऊपर गुणात्मक प्रभाव डाला है, किंतु जाति, लिंग और सांप्रदायिकता के मुद्दों को इन नवाचारों में सीधे संबोधित नहीं किया गया है।

आजादी के बाद के कुछ नवाचार, यथा-शांति-निकेतन, ऋषिवैली और नीलबाग स्कूल के प्रयोग मुख्यतः बच्चों की अंतर्निहित संभावनाओं की खोज और उनकी सृजनात्मकता के विस्तार पर केंद्रित थे। इस संदर्भ में सबसे दुःखद प्रसंग गांधीजी के बुनियादी शिक्षा प्रयोग का रहा, जिसके प्रति नई राज्य सत्ता की उदासीनता तो रही ही, स्वयं ग्रामीण जन-सामान्य भी इसके प्रति आकर्षित नहीं हुआ। गांधीजी के शिक्षा-सिद्धांत में श्रम (हाथ के काम और कौशल) पर मुख्य जोर था। ग्रामीण जन-सामान्य हाथ के काम में तो निष्णात था ही, श्रम पर उसकी पूरी जिंदगी निर्भर थी। वह शिक्षा से कुछ विशेष (सरकारी नौकरी और आरामदायक जीवन) आकांक्षा रखता था। बुनियादी शिक्षा उसकी स्थिति में वैसा कोई परिवर्तन नहीं सुझाती थी, जो आजादी के स्वप्न के साथ पुष्पित-पल्लवित हुआ था। शायद यही कारण था कि खुद गांधी के अनुयायी भी इस शिक्षा-प्रयोग को आगे नहीं ले जा सके।

विगत दशकों में विकसित शैक्षिक नवाचार मुख्यतः मुख्यधारा शिक्षा प्रणाली का विकल्प प्रस्तुत करने में जुटे रहे हैं। इनमें भी दलित, आदिवासी व अल्पसंख्यक बच्चों के सांस्कृतिक संदर्भों पर अलग से ध्यान नहीं केंद्रित किया गया है। इनमें माना जाता है कि जनतांत्रिक मूल्यों में इनका प्रतिकार अंतर्निहित है। इन शिक्षण संस्थानों से कम-से-कम एक पीढ़ी तो निकल कर आ ही चुकी है, लेकिन अपने सामाजिक परिक्षेत्र में वह कोई खास प्रभाव छोड़ने में समर्थ नहीं रही है। बेशक, इन नवाचारों की गुणवत्ता और सरोकार प्रशंसनीय हैं, लेकिन इनकी सीमाएं स्कूल से बाहर हैं। एक तो इन स्कूलों में समुदाय के बच्चों का एक हिस्सा ही पढ़ाई करता है। दूसरे, ये बच्चे अधिक-से-अधिक अपने कुल

समय का एक तिहाई ही स्कूल में गुजारते हैं, बाकी समय ये जिस परिवार और समुदाय में गुजारते हैं उसकी मूल-संरचना इनके द्वारा सीखी चीजों से असंगत होती हैं। चूंकि बच्चों की समुदाय के वयस्कों के बीच कोई आवाज नहीं होती, इसलिए ये बच्चे अपने परिवेश को प्रभावित कर पाने में सक्षम नहीं होते। इसलिए हमें लगता है कि किसी शैक्षिक नवाचार के साथ ही संबंधित समुदाय/समुदायों में भी जन-शिक्षण कार्य आरंभ करना चाहिए, तभी यह नवाचार आगे तक जा सकता है।

## शिक्षा की भारतीय अवधारणा

प्राचीन भारतीय शिक्षा के संदर्भ के लिए सामान्यतः प्रयुक्त किए जाने वाले शब्दों में 'ज्ञान', 'विद्या' और 'शिक्षा' प्रमुख हैं। अरबी-फारसी में शायद 'इल्म', 'तालीम', और 'हुनर' शब्दों का प्रयोग किया गया है। इन शब्दों के अभिप्राय, संदर्भ और निहितार्थों में सूचना व कौशल, सत्य व न्याय, विज्ञान व नैतिकता, धर्म व चरित्र जैसी अवधारणाएं समाहित हैं। कुल मिलाकर कला और संस्कृति का एक व्यापक फलक इस तरह शिक्षा की परिधि में आ जाता है। शिक्षा की आधुनिक अवधारणा इस तुलना में अपेक्षाकृत सीमित और कई मामलों में तो संकीर्ण प्रतीत होती है।

प्राचीन काल में शिक्षा का प्रसार अत्यंत सीमित रहा, यह सर्वविदित तथ्य है। फिर भी शिक्षा की प्राचीन भारतीय अवधारणा आश्चर्यजनक रूप से समाज के बीच आज भी प्रचलित है। उल्लेखनीय है कि समाज शिक्षा के 'आधुनिक रूप' को संकीर्ण मानता है और संशय की दृष्टि से देखता है। यहां समाज से हमारा अभिप्राय व्यापक जन-समाज से है, जिसमें बहुसंख्यक निरक्षर या कम पढ़े-लिखे तबके भी शामिल हैं, जबकि आधुनिक शिक्षित वर्ग शिक्षा के आधुनिक अर्थ को वरीयता देता है और प्राचीन अवधारणा को व्यावहारिक नहीं पाता। यह अलग बात है कि यही शिक्षित वर्ग आधुनिक शिक्षा के सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्ष में द्वैत देखता है और आधे-अधूरे रूप में ही शिक्षा को आत्मसात करता है, जबकि जनसाधारण 'शिक्षितों' की अहमन्यता और एकांगी आचरण से अक्सर संतुष्ट रहता है।

इस विचार के पीछे कुछ बातें रही हैं, जिन्हें इस प्रकार कहा जा सकता है-

ज्ञान को भारतीय जनसाधारण ऊंचा स्थान देता रहा है। इसके लिए संप्रदायों के बीच के संघर्ष देखे जा सकते हैं, जहां कोई संप्रदाय विशेष अपने धर्म में ज्ञान का उच्च स्तर साबित करने का प्रयास करता है। यहां धर्म की तरह ज्ञान को भी मुक्ति के साधन के रूप में देखा गया है। हालांकि ज्ञान की कई सरणियां अंततः पुनः धर्म के रहस्यालोक में खो जाती रही हैं।

व्यक्ति का चरित्र और उसका आचरण ही उसके शिक्षित होने का सबसे बड़ा साक्ष्य माना गया है। इस संदर्भ में विभाजित व्यक्तित्व सदैव गरिमा रहित और संशय से देखे गए हैं। व्यक्ति के आचरण का मापदंड सत्य और न्याय के प्रति उसका व्यवहार और रवैया रहा है।

सूचना की तुलना में अनुभव को वरीयता दी गई है। सूचना अपनी प्रामाणिकता अनुभव अथवा व्यवहार से पाती रही है। सूचना और अनुभव का संगत संयोग 'विद्या' का रूप लेता रहा है।

विज्ञान और तकनीक की संगति सामाजिक सापेक्षता और नैतिक पहलुओं से आंकी जाती रही है। बेशक, इसके पीछे पाप और पुण्य की अवधारणाएं भी काम करती रही हैं।

लोक-ज्ञान शिक्षा से पृथक नहीं माना गया। इसकी व्यावहारिकता इसे 'विद्या' (कौशल और तार्किकता) 'ज्ञान' का दर्जा दिलाती है।

संस्कृति के क्षेत्र में कार्यरत व्यक्तियों को भी महत्वपूर्ण दर्जा प्राप्त रहा है। शिक्षा और संस्कृति के संबंध बहुत प्रगाढ़ रहे हैं। ऐसा लगता है कि शिक्षा का हर पक्ष 'संस्कृति' में था, लेकिन संस्कृति का हर पक्ष 'शिक्षा' हो - यह जरूरी नहीं था। शिक्षा को सदैव सर्वोच्च, गरिमापूर्ण और गंभीर हैसियत मिलती रही, उसे कभी भी द्वितीयक या मनोरंजक वस्तु नहीं माना गया।

प्राचीनकाल में शिक्षा पर एक समय में ब्राह्मणवादी वर्चस्व के बावजूद इसके बहुत लाभ के उपक्रम के रूप में बदलने के प्रमाण नहीं मिलते। ब्राह्मण वर्ग द्वारा शिक्षा से आजीविका के अतिरिक्त धनोपार्जन को समाज वैधता नहीं देता।

शिक्षा की प्रकृति इतनी भिन्न है कि इस उपक्रम से संबद्ध पेशेवर लोगों अर्थात शिक्षकों से भी भिन्न अपेक्षाएं रखी गई हैं। 'गुरु' विषयक धारणाएं इसका प्रमाण हैं। ऐसी ही अपेक्षाएं लगभग ज्ञान के भिन्न अनुशासनों में सक्रिय विशेषज्ञों, जैसे वैद्य, पशु चिकित्सक, मौसम विज्ञानियों, औषधि, जादू और बीजों के बारे में जानकारी रखने वालों से रही हैं। हालांकि उन्हें समाज में उतनी मानद हैसियत प्राप्त नहीं रही है।

शिक्षा के प्रवाहमान और जीवित स्वरूप को एक प्रक्रिया के रूप में मान्यता ज्यादा मिलती रही है। 'आंखिन देखी': अनुभव- आधारित और 'कागद-लेखी': लिखित ही प्रमाण, विद्याओं के मध्य द्वंद्व और सहयोजन की प्रक्रिया भी चलती रही है। शिक्षा में अंतर्निहित शक्ति और संभावनाओं को देखते इस पर एकाधिकार करने और वर्चस्व स्थापना में इसे इस्तेमाल करने की प्रवृत्तियों का जनसाधारण ने सदैव प्रतिकार किया है। शिक्षा से स्वतंत्रता और मुक्ति की अवधारणाएं भी गहरे संबद्ध रही हैं।

**इस विचार के साथ निम्न सवाल उभरते हैं:**

ऐसे कौन-से कारण रहे हैं कि प्राचीन समय में 'शिक्षा, ज्ञान और विद्या; अथवा तालीम, इल्म या हुनर' की शीर्ष स्तर पर जो शास्त्रीय अवधारणाएं थीं, तात्विक रूप से लगभग उसी रूप में समाज के बीच भी प्रचलित रही हैं, जबकि शिक्षा का प्रत्यक्षतः प्रसार अत्यंत सीमित था। क्या यह श्रुति-स्मृति की परंपरा के माध्यम से ही जीवित रहा?

ऐसा क्यों रहा कि शिक्षा के आधुनिक स्वरूप को तथाकथित आधुनिक समाज ने तो अपना लिया, लेकिन शास्त्रीय विचारणा से दीर्घकालीन अलगाव के बावजूद जन-सामान्य शिक्षा की मूल भारतीय अवधारणा से आज तक जुड़ा हुआ है?

कथित आधुनिक समाज, विशेषकर मध्यवर्ग ने शिक्षा के आधुनिक स्वरूप को भी आधा-अधूरा अपनाया है। इसके आचरण में द्वैत है, तथापि वह इसका प्रबल प्रवक्ता है। ऐसा क्यों है? क्या इसलिए कि इससे वह लाभान्वित हो रहा है अर्थात इससे उसके हित सध रहे हैं?

भारतीय जन-समाज आधुनिक शिक्षा को सामान्यतः यथासंभव नकारता है, और दबाव, प्रलोभन की स्थिति में ही वह इसे स्वीकार किए हुए है। लेकिन, यह 'स्वीकार' बहुत अस्थिर और अनिच्छापूर्ण है, क्योंकि वास्तव में उसके लिए शिक्षा का जो आदर्श है, उसमें सोच और आचरण के स्तर पर द्वैत के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। दूसरी ओर प्राचीन शिक्षा की मूल अवधारणा से जुड़े रहने की समाज में भरसक कोशिश परिलक्षित हो सकती है। यह देखने की जरूरत है।

यह भी देखना महत्वपूर्ण होगा कि शिक्षा की प्राचीन अवधारणा की व्यापकता और अर्थ-संवर्द्धन की प्रक्रिया क्या 'लोक से शास्त्र की ओर' रही है अथवा 'शास्त्र से लोक की ओर'। शिक्षा से जुड़ी नीति और सौंदर्य-विषयक मान्यताओं के सतत अक्षुण्ण बने रहने के स्रोत कहां हैं?

ऐसा लगता है कि तमाम नवाचारों के बावजूद आधुनिक शिक्षा के यथावत विस्तार के अलावा उसके अर्थ-विस्तार के प्रयास बहुत निर्णायक प्रभाव डालते प्रतीत नहीं होते। आखिर आधुनिक शिक्षित वर्ग शिक्षा की व्यापक नवीकृत अवधारणा को व्यवहार के स्तर पर अपनाने से कतराता क्यों है?

अंत में, कहना यही है कि भूमंडलीकरण के इस दौर में जहां एक ही प्रकार की शिक्षा से विश्व-समाज को कुछ वर्चस्वशाली शक्तियां अनुकूलित करना चाहती हैं, क्या हमें भारतीय शिक्षा की देशज अवधारणा पर चिंतन नहीं करना चाहिए, जो हमारी जमीन के हवा-पानी में फल-फूल सके, हमारे व्यापक समाज की इच्छा-आकांक्षाओं के अनुरूप हो और हमारी सांस्कृतिक विशिष्टताओं को संरक्षित और संवर्द्धित करती हो। बेशक, यदि शिक्षा की ऐसी कोई भारतीय अवधारणा आज विकसित होकर सामने आती है, तो यह पुरातनोन्मुखी नहीं होगी, बल्कि वैश्विक परिप्रेक्ष्य में भविष्योन्मुखी होगी। ◆

**लेखक परिचय :** 'शिक्षा विमर्श' के संस्थापक संपादक, द्वैमासिक 'संस्कृति मीमांसा' के संपादक, स्वयंसेवी संगठन समान्तर 'सेन्टर फॉर कल्चरल एक्शन एण्ड रिसर्च' के कार्यकारी निदेशक (मानद) हैं।

**संपर्क :** 9828169277; samantarcsc@gmail.com

# स्कूलों की भाषा में जेंडर

आलोक कुमार मिश्रा

भाषा हमारे अस्तित्व में केन्द्रीय महत्त्व का विषय है। अपनी विविध भूमिकाओं में भाषा जहां संप्रेषण की बहुमुखी व्यवस्था है, वहीं चिंतन-मनन का माध्यम और सामाजीकरण का आधार भी है। भाषा जहां समाज और उसकी संरचना, उसमें निहित विविध अस्मिताओं से प्रभावित और निरूपित होती है वहीं स्वयं भाषा भी समाज को नये तरीके से रूपायित करने में भूमिका निभाती है। स्कूलों में एक विषय और माध्यम होने की अपनी द्वैध भूमिका से इतर भाषा संस्कृति में निहित मूल्यों, आदर्शों, वर्चस्व प्रतिरूपों आदि से जुड़ी होने के कारण न केवल इनको संचारित करती है अपितु इनसे बनती और इन्हें बनाती भी है। भाषा अपनी इस विस्तृत भूमिका के प्रमुख पक्ष के तौर पर लिंग संस्कृति को भी प्रकट करती है।

एन.सी.एफ. 2005 के शिक्षा में लैंगिक मुद्दे पर गठित राष्ट्रीय फोकस समूह के आधार पत्र में भाषा के विषय में स्पष्टतः कहा गया है कि, ''यह जानना बहुत रुचिकर है कि भाषा में जेंडर किस प्रकार कूटबद्ध है। अन्य प्रतिनिधित्व की तरह ही भाषाई प्रतिनिधित्व भी समाज में महिलाओं की स्थिति का परिचायक है। हमें अपने इस सामान्य सहजबोध पर प्रश्न करने की जरूरत है कि सभी सेक्स एक साझी भाषा के हिस्सेदार हैं। वर्तमान भाषा पितृसत्तात्मक और असमान शक्ति संबंधों से जुड़ी है। यदि भाषा इस तरह एक पक्षीय है तो इसे बदले जाने की जरूरत है।'' (2006, पृ 67, 68)। यदि शिक्षा को न्याय का दायरा बढ़ाने तथा सामाजिक अन्यायों का दायरा सिकोड़ने वाली प्रक्रिया माना जा रहा है तो ऐसे में जरूरी हो जाता है कि शिक्षा प्रक्रिया के तमाम तत्व (जिसमें भाषा महत्वपूर्ण है) ऐसा करने में मददगार हों। स्कूल सामाजीकरण के प्रमुख यंत्र के रूप में भाषा रूपी सांस्कृतिक औजार का प्रयोग किस तरह करते हैं, इसे जानना और समझना भी समाज के लिए जरूरी है। यही इस अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य है। मात्र भाषा की संरचना और स्वरूप का ही लोकतांत्रिक मूल्यों और समता आधारित जेंडर समावेशन से भरपूर होना ही काफी नहीं है अपितु उसके शिक्षण में भी इन मूल्यों का संचरण आवश्यक है। वर्तमान हिन्दी भाषा की पुस्तकें किस हद तक इस अपेक्षा पर खरी उतरती हैं यह देखना महत्वपूर्ण है।

भाषा मानव जीवन के हर आयाम तक विस्तृत है। इसे सीमित करते हुए हिन्दी विषय की एनसीईआरटी की कक्षा 6 से 8 की पाठ्यपुस्तकों 'बसंत' के अंतर्वस्तु विश्लेषण और कक्षा-कक्ष की शिक्षण प्रक्रिया में इसके संचरित होने वाले स्वरूप का अवलोकन मैंने जेंडर पहचान के संदर्भ में किया है। अंतर्वस्तु विश्लेषण को निम्न बिंदुओं या कोटियों के अंतर्गत संपन्न किया गया -

1) अंतर्वस्तु निर्माण और स्वरूप में लैंगिक प्रतिनिधित्व की स्थिति
2) पुरुषत्व एवं नारीत्व मॉडल का प्रस्तुतीकरण और तुलनात्मक स्थिति
3) चित्रों एवं प्रतीकों द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली जेंडर पहचान का स्वरूप
4) पुस्तकों की भाषा की व्याकरणीय संरचना में अंतर्निहित लिंगभेद या लिंग समता की पहचान

अध्ययन के दूसरे पक्ष जिसमें कक्षा-कक्ष की शिक्षण अधिगम प्रक्रिया में संचारित होने वाली भाषा का अवलोकन किया गया है, को निम्न बिंदुओं पर संपन्न किया गया है-

1) जेंडर संबंधी पाठ्यसामग्री का कक्षा-कक्ष में प्रयोग
2) कक्षा में जेंडर संबंधी मुद्दों पर शिक्षक/शिक्षिका का व्यवहार
3) जेंडर संबंधी मुद्दों पर विद्यार्थियों की प्रतिक्रिया व व्यवहार
4) जेंडर समता-विषमता से जुड़ी संवेदनशीलता/असंवेदनशीलता की स्थिति

इस अध्ययन को संपन्न करने के लिए जिन सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्यों को आधार बनाया गया है उनका चुनाव करते समय इस बात को ध्यान में रखा गया है कि वह भाषा व उसकी संरचना तथा उसके द्वारा निर्मित की जाने वाली लैंगिक अस्मिता को तार्किक तरीके से डिकोड या अर्थायित करे। इसके लिए मुख्यतः समाज भाषा-विज्ञान द्वारा प्रदत्त विश्लेषणों तथा इसके अंतर्गत नारीवादी-उत्तर संरचनावादी, उत्तर आधुनिकतावादी दृष्टिकोण को आधार बनाते हुए आलोचनात्मक सिद्धांत व अन्वेषण के तौर-तरीकों की मदद से अंतर्वस्तु विश्लेषण कार्य किया गया है। इससे पाठ (टैक्स्ट) में निहित प्रछन्न मूल्यों और सार संदेशों को जाना जा सकता है जो प्रकट मूल्यों की तरह ही महत्वपूर्ण और सामाजीकरण के मुख्य संवाहक होते हैं। अध्ययन का नतीजा चौंकाने वाला था।

## अंतर्वस्तु विश्लेषण

(1) **अंतर्वस्तु की निर्माण प्रक्रिया और स्वरूप में लैंगिक प्रतिनिधित्व की स्थिति**- लोकतंत्र की ही तरह भाषा में भी प्रतिनिधित्व का सवाल बहुत महत्वपूर्ण है। यह बताता है कि किसके अनुभवों व विचारों को सामान्य बनाकर प्रस्तुत किया जा रहा है। हिन्दी पाठ्यपुस्तकों (बसंत, भाग 1, 2, 3) के विश्लेषण से निम्न स्थिति निकलकर आई-

- ☐ पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति में यदि लैंगिक प्रतिनिधित्व देखा जाए तो यह पुरुष वर्चस्व को प्रकट करती है। इसमें 75.6 प्रतिशत पुरुष हैं तो वहीं महिलाएं मात्र 21.95 प्रतिशत हैं। बाकी की पहचान अस्पष्ट है।
- ☐ पाठ्यपुस्तकों में शामिल अंतर्वस्तु की रचना करने वाले लेखक-लेखिकाओं या कवियों/कवयित्रियों की संख्या भी लगभग यही स्थिति दिखाती है। इसमें 76.47 प्रतिशत पुरुष और 17.64 प्रतिशत महिलाएं हैं। कुछ की पहचान यहां भी स्पष्ट नहीं है।
- ☐ अंतर्वस्तु में शामिल पात्रों की संख्या में पहले दो बिंदुओं के मुकाबले लैंगिक प्रतिनिधित्व कुछ बेहतर दिखता है पर है असमान ही। कुल पात्रों में 60.35 प्रतिशत पुरुष तो 33.13 प्रतिशत महिलाएं हैं। 6.5 प्रतिशत पात्रों की पहचान अस्पष्ट है। आंकड़े स्पष्ट रूप से यह दर्शाते हैं कि अंतर्वस्तु निर्माण एवं संयोजन में स्पष्ट लैंगिक विभेद है।

(2) **पुरुषत्व एवं नारीत्व मॉडल का प्रस्तुतीकरण और तुलनात्मक स्थिति** - अंतर्वस्तु विश्लेषण के अगले चरण में अध्ययन कर्ता द्वारा हिन्दी की पुस्तकों (बसंत) में शामिल लैंगिक मॉडल को जांचा गया है। इसमें भी कुछ बिंदुओं को आधार बनाया गया है जैसे- संवाद विश्लेषण (कौन बोल रहा है, कौन प्रभावशाली स्थिति में है आदि), भौतिक संपत्ति का मालिकाना किसके पक्ष में है, वस्तुओं या जीव जंतुओं के मानवीकरण में निहित लैंगिक पैटर्न आदि।

अध्ययन में यह बात निकलकर आई है कि यह पुस्तकें परम्परागत लैंगिक भूमिकाओं का ही अधिकतर मामलों में पुनरुत्पादन करती हैं।

कक्षा 6 के पाठ 'नादान दोस्त' में भाई और बहन की आपसी बातचीत हो या अभ्यास कार्य सभी में लड़की श्यामा को ही अज्ञानी, निम्नतर और भाई केशव को समझदार और उस पर हावी दिखाया गया है। जैसे- 'श्यामा कहती क्यों भैया, बच्चे निकलकर फुर्र से उड़ जाएंगे? केशव विद्वानों जैसा गर्व से बोला-नहीं री पगली पहले पर निकलेंगे।' (पृष्ट 13, बसंत) इसी पाठ की यह पंक्ति भी यही भाव उजागर करती है- 'श्यामा ने दिल में सोचा भैया कितना चालाक है।' (पृष्ट 15)

इन पुस्तकों में यह प्रवृत्ति अन्य पाठों में भी इसी मजबूती से दुहराई गई है। पाठ 'पार नजर के' (कक्षा 6, पृष्ठ 34,35) और 'अकबरी लोटा' (कक्षा 8, पृष्ठ 81) की अनाम और निर्भर औरतें हों या पाठ 'दादी मां' (कक्षा 7, पृष्ठ 7,8) और 'मिठाईवाला' (कक्षा 7, पृष्ठ 27,28) में निहित परदा प्रथा व स्त्रियों की घरेलू छवि सभी यही दुहराते हुए दिखाई देते हैं।

पाठ 'लाख की चूड़ियां' (कक्षा 8, पृष्ठ 6-10) औरतों की समाज में दोयम स्थिति को बिना प्रश्न उठाये आगे बढ़ाता है। जैसे यह संवाद- 'मैं उससे कहता कि शहर में सब कांच की चूड़ियां पहनते हैं तो वह उत्तर देता, 'शहर की बात और है, लला वहां तो औरतें अपने मरद का हाथ पकड़कर सड़कों पर घूमती भी हैं और फिर उनकी कलाइयां नाजुक होती हैं ना। लाख की चूड़ियां पहनें तो मोच न आ जाए।' (पृष्ट 7) इसी तरह कविता 'कठपुतली' (कक्षा 7, पृष्ट 14) में महिलाओं को कठपुतली के रूप में चित्रित किया गया है और उनकी स्वतंत्र होने के लिए जगी इच्छा पर उन्हीं द्वारा आश्चर्य जताने से कोई स्पष्ट संदेश नहीं निकलने की बजाय यथास्थितिवाद को बढ़ावा मिलता है। इस प्रकार पुस्तकों के पात्र नए बदलावों से परे पुराने अंदाज में ही परोसे गए हैं।

(3) **चित्रों-प्रतीकों में निहित जेंडर पहचान का स्वरूप** - चूड़ी, गहने, वैधव्य, पर्दा सभी कुछ अपने परंपरागत अर्थ में ही आए हैं। सार्वजनिक स्थलों को चित्रों में पुरुष क्षेत्र के रूप में ही चित्रित किया गया है। असमान लिंग प्रतिनिधित्व तो है ही। जैसे कविता- 'झांसी की रानी' (कक्षा 6) में कवयित्री ने जाने अनजाने चूड़ी को स्त्री की स्वभाविक पहचान व सौभाग्य से जोड़ दिया है-

'तीर चलाने वाले कर में उसे चूडियां कब भाई।
रानी विधवा हुई हाय विधि को भी नहीं दया आई।' (पृष्ठ 71, बसंत)

इसी तरह 'लाख की चूड़ियां' (कक्षा 8) पाठ का यह कथन कि 'गोरी-गोरी कलाइयों पर लाख की चूड़ियां बहुत फब रही थीं।' (पृष्ट 10) और 'पूरा जोड़ा बना लेने पर वह उसे बेलन पर चढ़ाकर कुछ पल चुपचाप देखता रहा। मानो वह बेलन न होकर नववधू की कलाई हो' (पृष्ट 6, बसंत) अपने-आप में गोरेपन के पक्ष में नस्लवादी से लगते हैं साथ ही युवतियों को घूरे और निहारे जाने योग्य मानने की संस्कृति को बढ़ावा देकर छेड़छाड़ जैसी घटनाओं को सामान्य बनाने को प्रोत्साहित करते हुए दिखते हैं।

किताबों में दी गई चित्रों की श्रृंखला भी प्रचलित पितृसत्तात्मक जेंडरबद्ध भूमिकाओं को स्वभाविक-प्राकृतिक सत्य के रूप में दर्शाती हुई प्रतीत होती हैं। पाठ- 'मिठाईवाला' में परदे की आड़ से सहमी हुई झांकती महिला रोहिणी का चित्र (कक्षा 7, पृष्ट 27) हो या पाठ- 'टिकट-अलबम' में कक्षा का चित्र जिसमें दो लड़कियों के अलावा सभी लड़के हैं (कक्षा 7, पृष्ट 60) सभी असमानता पूर्ण व भेदभाव परक लैंगिक स्थिति को बयां करते हैं। कक्षा 8 की हिन्दी पाठ्यपुस्तक 'बसंत' के पाठ- 'बस की यात्रा' (पृष्ट 15), 'क्यों निराश हुआ जाए' (पृष्ट 36, 37, 38), 'अकबरी लोटा' (पृष्ट 84), 'टोपी' (पृष्ट 118, 121) आदि के चित्र सार्वजनिक जगत को प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से पुरुष क्षेत्र के रूप में उद्घोषित करते हैं। जबकि इनमें महिलाएं लगभग शून्य हैं।

(4) **भाषा की व्याकरणीय संरचना में अंतर्निहित लिंगीय सत्ता** - इसमें मानवीकरण, एक शेष प्रक्रिया, पुलिंग-स्त्रीलिंगीय वर्चस्व आदि की परख की गई है।

कविता 'वह चिड़िया' (कक्षा 6, पृष्ट 1, 2) में चिड़िया को स्त्री रूप में वन पुरुष की सेवा में संलग्न दिखाया गया है। पाठ 'हिमालय की बेटियां' (कक्षा 7) में पितृसत्तात्मक संस्कृति में गौरवान्वित कन्यादान, बहुपत्नी प्रथा को उकेरा गया है। लोकगीत 'विदाई' (कक्षा 6) में लड़की का स्वयं को ही विवश, पराधीन मानना और अपनी तुलना पशु-पक्षी से करना कष्टप्रद दिखाई देता है। (पृष्ट 104) पुलिंग शब्दों में स्त्री लिंगीय पहचानों को समाहित मानकर चलने की प्रवृत्ति सभी किताबों में मजबूती से जमी हुई हैं। कई पाठों में आदमी शब्द में बार-बार औरतों को समाहित मान लिया गया है। जबकि औरत कहते हुए हर जगह सिर्फ औरतों को ही संबोधित किया गया है। पाठ- 'अक्षरों का महत्व' (कक्षा 6)

में समस्त मानव जाति के लिए आदमी शब्द का प्रयोग 12 बार किया गया है जबकि मानव शब्द का प्रयोग मात्र 5 बार। यहां भाषा की खोज में आदमी की भूमिका के वर्णन का बच्चों के मन में पुरुष की भूमिका के रूप में ही उतरने की संभावना अधिक है। जैसे- 'कोई दस हजार साल पहले आदमी ने गांवों को बसाना शुरू किया। वह खेती करने लगा। वह पत्थरों के औजारों का इस्तेमाल करता था।' (पृष्ट 29, कक्षा 6) महिलाएं पूरी प्रक्रिया में या तो अपने-आप समाहित मान ली गई हैं या अनुपस्थित। पुलिंग एक शेष की यह प्रक्रिया असमान लैंगिक प्रस्थिती को ही बयां करती है। इसी प्रकार स्त्री लिंगीय शब्दों को पुलिंग शब्दों से व्युत्पन्न दिखाना साथ ही तुलनात्मक रूप से कमजोर, निर्भर, छोटे रूप में चित्रित करना असमान पहचान को बढ़ावा देते हुए प्रतीत होते हैं। सभी उत्पादक कार्य जहां पुरुषों से जुड़े हैं वहीं घरेलू कार्य महिलाओं के लिए आरक्षित किए गए हैं।

## कक्षा शिक्षण प्रक्रिया का अवलोकन

अध्ययन के दूसरे चरण में प्रेक्षण कार्य के लिए तीन विद्यालयों जिसमें एक सह शिक्षा, एक बालक और एक बालिका विद्यालय शामिल है, में उद्देश्य की सुविधा अनुसार पाठों के शिक्षण का काल चुना गया। इनमें पाठ- झांसी की रानी, मिठाईवाला और लाख की चूड़ियां शामिल थे।

अध्ययन में यह पाया गया कि अधिकांश समय शिक्षक/शिक्षिकाओं द्वारा सचेष्ट तरीके से समतापूर्ण जेंडर समावेशन का कोई अतिरिक्त प्रयास नहीं किया गया। सीमित या विषम जेंडर समावेशन वाली अंतर्वस्तु को बिना प्रश्न उठाये आगे बढ़ा दिया गया। इसके पीछे संभवतः जेंडर संवेदनशीलता के अनुरूप प्रशिक्षण की कमी भी कारण रही हो। उदाहरण के लिए कविता 'झांसी की रानी' में आए मर्दानी शब्द को जिस साहस और वीरता के द्योतक के रूप में प्रयोग किया गया है उसी अर्थ में कक्षा में भी चलते रहने दिया गया। जबकि आलोचनात्मक चेतना उत्पन्न करने का यहां अच्छा अवसर हो सकता था। पाठ 'मिठाईवाला' और 'लाख की चूड़ियां' के शिक्षण अवलोकन में भी कोई आलोचनात्मक चेतना उत्पन्न करने के अवसर पैदा करने वाले संदर्भ या अवसर कक्षा में नहीं दिखाई दिए।

## प्राप्तियां और निष्कर्ष

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 और उससे जुड़े शिक्षा में लैंगिक मुद्दे पर गठित राष्ट्रीय फोकस ग्रुप का आधार पत्र 2006 दोनों ही शिक्षा में नये और वांछित बदलावों की सिद्धि के लिए पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकों की भूमिका को बहुत अधिक महत्व देते हैं। वर्तमान में स्कूलों में पढ़ाई जा रही हिन्दी की एनसीईआरटी की कक्षा 6, 7 और 8 की पुस्तकें 'बसंत' अपने प्रारंभिक पृष्ठ 'शिक्षक से' में यह दावा भी करती हैं कि 'यह किताब राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 के आधार पर तैयार किए गए पाठ्यक्रम पर आधारित है। यह पारंपरिक भाषा शिक्षण की कई सीमाओं से आगे जाती है।'

हिन्दी भाषा की इन पुस्तकों के विशलेषण से यह स्पष्ट होता है कि इन अपेक्षाओं और घोषणाओं पर यह किताबें खरी नहीं उतरती। जेंडर समावेशन का महत्वपूर्ण आयाम समतापूर्ण और न्यायपूर्ण लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व है जिसमें यह किताबें असफल रही हैं। पुरुष वर्चस्व की यह स्थिति सामान्यतः उनके ही अनुभवों को सामान्य सहज बनाकर प्रस्तुत करती है जो अंतर्वस्तु विश्लेषण में निकलकर आया है।

संवाद एवं संदर्भों के विशलेषण में यह भी निकला है कि पुरुषत्व और नारीत्व के जिस मॉडल को यह भाषाई पुस्तकें प्रस्तुत करती हैं वह असमानता व पितृसत्तात्मक मूल्यों को बढ़ावा देता हैं। इनमें पुरुषों को उत्पादक, स्वायत्त, मालिक, ज्ञानी, सार्वजनिक छवि के साथ तो महिलाओं को घरेलू, निर्भर, अधीन, अज्ञानी व पारिवारिक जैसी परंपरागत भूमिका में ही अधिकांशतः दर्शाया गया है। अशिकांश चित्र व प्रतीक भी इसे ही दुहराते और पुष्ट करते हैं। भाषा की मूल प्रकृति और उसकी व्याकरणीय संरचना में ही लैंगिक विषमता व असमान समावेशन को देखा जा सकता है। जिसमें पुलिंग की स्त्रीलिंग पर श्रेष्ठता हर जगह दिखाई देती है। एकशेष प्रक्रिया में जहां स्त्रीलिंग का पुलिंग के अंदर ही

विलोपन हो जाता है वहीं कई स्त्रैण शब्दों को पुलिंग से ही व्युत्पन्न दिखाकर उन्हें कमतर दर्शाया जाता है। पुस्तकें इसी प्रक्रिया को बिना बदले या बिना प्रश्न उठाये आगे बढ़ाती हैं।

इस अंतर्वस्तु के कक्षाई प्रक्रिया में संचारित होने वाली स्थिति भी इसको ही आगे बढ़ाती है। बिना अतिरिक्त संवेदनशीलता दर्शाये या प्रश्न उठाये शिक्षक- शिक्षिकाएं ज्यादातर मामलों में अंतर्वस्तु को जैसा है उसी रूप में आगे बढ़ाते दिखाई दिए। भाषा के इस असमान समावेशन में एक बात और भी रेखांकित की जा सकती है और वह है स्त्री-पुरुष से इतर लैंगिग पहचान को पूरी तरह से अनुपस्थित ही रखा गया है। तीसरे लिंग और एलजीबीटी पहचान के लोकतांत्रिक समावेशन की मांग, आन्दोलन और सरकार-समाज द्वारा इसे मान्यता दिए जाने के इस युग में इनकी अनुपस्थिति व इनको लेकर पूर्ण चुप्पी और भी गलत है। लैंगिक समावेशन की यह असमान स्थिति बदली ही जानी चाहिए। ◆

**लेखक परिचय :** दिल्ली विश्वविद्यालय से एम ए (राजनीति विज्ञान), एम एड, एम फिल (शिक्षाशास्त्र) वर्तमान में दिल्ली के सरकारी विद्यालय में सामाजिक विज्ञान के शिक्षक के रूप में कार्यरत।

**संपर्क :** 9818455879; alokkumardu@gmail.com

### संदर्भ सूची

1. अनामिका (2013), 'स्वाधीनता का स्त्री पक्ष', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
2. आर्या साधना एवं अन्य (2001), 'नारी राजनीति : संघर्ष एवं मुद्दे', हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।
3. एप्पल एम डब्ल्यू और बीन, ए (2000), 'लोकतांत्रिक स्कूलः कक्षा से सीखे सबकः, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
4. एनसीईआरटी (2006), 'राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005', एनसीईआरटी, नई दिल्ली।
5. एनसीईआरटी (2006), 'शिक्षा में लैंगिक मुद्दे पर आधार पत्र, 2006', एनसीईआरटी, नई दिल्ली।
6. कुमार कृष्ण (2004), 'बच्चे की भाषा और अध्यापक', नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली।
7. कुमार कृष्ण (2014), 'चूड़ी बाजार में लड़की', ग्रंथशिल्पी, दिल्ली।
8. कुमार रवीन्द्र (2013), 'समान्तर दृष्टि की राह (रचनात्मक एवं वैचारिक परिदृश्य का स्त्री विवेक), यश पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
9. गुटेक गेराल्ड एल (2009), 'न्यू पर्सपेक्टिव आफ फिलॉसफी एन्ड एजूकेशन', पियर्सन पब्लिकेशन्स।
10. दुबे लीला (2012), 'लिंग भाव का मानव वैज्ञानिक अन्वेषणः प्रतिच्छेदी क्षेत्र, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली।
11. भसीन कमला (2004), 'भला यह जेंडर क्या है?', जागोरी प्रकाशन, नई दिल्ली।
12. मिश्रा दयानिधि और सिंह दिलीप (2012), 'भाषा, संस्कृति और लोक', वाणी प्रकाशन, दिल्ली।
13. सिंह सुधा (2008), 'ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ', ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली।
14. सिंह दिलीप (2011), 'भाषा का संसार', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

# बच्चों के साथ बातचीत

**रोहित धनकर**

**अनुवादः रविकांत**

पिछले 8 सालों से ग्रामीण भारत के सरकारी स्कूलों के साथ मेरा संपर्क टूट सा गया था। मुझे यह महसूस होना शुरू हो गया था कि मेरे कदम ठोस जमीन पर नहीं टिके हैं और जमीनी शैक्षिक क्रियाकलापों के बारे में मेरी समझ अगर धुंधली नहीं हुई, तो भी काफी पुरानी पड़ चुकी है। (मैं यह इसलिए कह रहा हूं क्योंकि मेरा मानना है कि ''जमीनी या असली शैक्षिक क्रियाकलाप'' स्कूलों की कक्षाओं में ही होते हैं, अब मैं इस बात को किसी दूसरे लेख में समझाने के लिए छोड़ देता हूं)। इसलिए कल मैं दो सरकारी स्कूलों में गया। उनमें से एक विकासखंड मुख्यालय पर बना उच्च माध्यमिक विद्यालय और दूसरा एक शहर से काफी दूर बसे गांव में बना उच्च प्राथमिक विद्यालय था।

दोनों ही स्कूलों के कैंपस काफी खूबसूरत तो थे ही, उनमें जगह भी काफी थी। उनमें से उच्च प्राथमिक विद्यालय तो काफी हैरतअंगेज तरीके से खूबसूरत, हरा-भरा, बेहद शांत व सुव्यवस्थित था। मुझे नहीं लगता कि कोई भी निजी स्कूल उसके मुकाबले में कहीं ठहर भी पाएगा।

उच्च माध्यमिक विद्यालय में 48 कक्षाएं थीं व उसमें करीब 1700 बच्चे थे। उसकी इमारत का रख-रखाव अच्छा था। सभी कक्षाएं चल रही थीं, अध्यापक मौजूद थे। हालांकि कई कक्षाओं में बच्चों की संख्या 100 से भी ज्यादा थी। दो-तीन कक्षाओं में तो बच्चे दरवाजे के बाहर तक बैठे थे, कक्षा में कही जा रही बात को ध्यान से सुन कर नोट्स ले रहे थे। प्राचार्य ने बताया कि उनके पास हरेक बच्चे के लिए पर्याप्त फर्नीचर था, लेकिन वे उसका इस्तेमाल नहीं कर सकते क्योंकि फिर कक्षा में सिर्फ 50 बच्चे ही बैठ पाएंगे। इसलिए वहां पर बच्चे दरी पर बैठते थे और अध्यापक एक छोटी मेज व कुर्सी पर बैठते थे। विज्ञान की प्रयोगशाला भी पर्याप्त थी।

सभा में प्राचार्य बच्चों के साथ हरेक सप्ताह बातचीत करते हैं। ऐसा लगा कि वे उसमें नैतिक विकास पर जोर देने के साथ-साथ दूसरे सभी भारतीयों के साथ मिल जुल कर रहने तथा अपने अहंकार से मुक्ति पाने की बात पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं।

यह एक विकासखंड के मुख्यालय वाला कस्बा था और पुराने गांव में मुस्लिम आबादी की बहुतायत थी। अब पुराने गांव के आस-पास कुछ नई कॉलोनियां बसने के बाद आबादी में मुस्लिम करीब 35-40 प्रतिशत और हिंदू करीब 65-70 प्रतिशत हो गए थे। यह कस्बा 1992 (बाबरी मस्जिद के मसले के वक्त) तथा 2005 के बीच तीन धार्मिक सांप्रदायिक दंगों का सामना कर चुका था। इसी इलाके में काम करने वाले एक दोस्त के मुताबिक, सतह पर नजर आती शांति के बावजूद, दोनों समुदाय एक दूसरे के प्रति संदेह से भरे रहते है।

प्राचार्य ने बताया कि पहले स्कूल में हिंदू मुस्लिम बच्चों के बीच झगड़ा फसाद होता रहता था, जो शुक्र है कि अब नहीं होता। लेकिन अब इस स्कूल की कुल बच्चों की संख्या 1700 में से करीब 150-200 बच्चे ही मुस्लिम हैं, जबकि कस्बे में मुस्लिम आबादी करीब 35-40 प्रतिशत है। ऐसा लगता है कि इस कस्बे के मुस्लिम शैक्षिक तौर पर काफी सजग हैं, बहुत से बच्चे विदेश में पढ़ते हैं, सरकारी नौकरी में उनका प्रतिशत अच्छा खासा है और पारंपरिक तौर पर उनके पास बड़ी जमीनें हैं। तो इस बेहतरीन तरीके से चलने वाले स्कूल में मुस्लिम बच्चों का प्रतिशत इतना कम क्यों है? प्राचार्य का सोचना है कि हाल ही में मुस्लिम समुदाय ने अपना खुद का माध्यमिक विद्यालय खोल लिया है और सरकार ने भी एक दूसरा उर्दू माध्यम का एक माध्यमिक स्कूल खोल दिया है। किसी को भी हैरानी हो सकती है कि इन दो चीजों की जरूरत ही क्या थी?

प्राचार्य बच्चों के साथ की जाने वाली चर्चाओं में दोनों धर्मों के साहित्य में से प्रेरणादायक कहानियां सुनाते हैं। हालांकि स्कूल में सरस्वती की बड़ी मूर्ति है और उनके कार्यालय में सरस्वती की दो बड़ी तस्वीरें लगी हुई हैं। इस्लाम की झलक देती हुई कोई चीज न तो स्कूल में और न ही कार्यालय में नजर आई, या कम से कम मुझे तो नहीं ही दिखी।

प्राचार्य ने दो प्रेरणादायक कहानियां सुनाई, जिसमें उन्होंने बच्चों को अपने अहंकार, गुरूर से मुक्ति पाने का उपदेश दिया। एक मुस्लिम संत तथा उसके शागिर्द के बारे में थी। उसमें मुस्लिम संत यह दलील देते हैं कि अहंकारी लोगों पर गुस्सा करने के बजाय उन पर दया करनी चाहिए क्योंकि उनकी रूह बीमार होती है। दूसरी कहानी में वशिष्ठ, विश्वमित्र को ब्रह्म ऋषि का खिताब तब देते हैं जब वे झुकना सीख जाते हैं। गुरू पूर्णिमा (27 जुलाई 2018 को) पर कहानियां सुनाकर उन्होंने बच्चों से पूछा कि क्या वे किसी बड़े भारतीय नेता का नाम बता सकते हैं जिसने अपना अहंकार छोड़ दिया था, यानी झुकना सीख लिया था बच्चों ने दो उदाहरण दिए, एक अब्दुल कलाम और दूसरा नरेंद्र मोदी। मोदी ने संसद भवन में पहली बार दाखिल होते वक्त उसकी सीढ़ियों पर अपना माथा टेका था। प्राचार्य का विचार था कि हाल ही में राहुल गांधी ने भी इसका उदाहरण पेश किया था, जब उन्होंने मोदी को संसद में गले लगाया था।

प्राचार्य ने मुझे 12वीं कक्षा में राजनीति विज्ञान, इतिहास तथा भूगोल पढ़ने वाले बच्चों के साथ बातचीत करने की इजाजत दे दी। बातचीत पूरी हिंदी में थी। मैं उसे अपनी याददाश्त की मदद से दर्ज करने की कोशिश कर रहा हूं।

प्राचार्य मुझे एक कक्षा में ले गए। वहां पर एक अध्यापक थे। प्राचार्य ने बच्चों को मेरा परिचय दिया (लेकिन अध्यापक से कुछ नहीं कहा)। उन्होंने कहा कि, ''आप बाहर से आए हैं, आप लोगों से बात करेंगे, ठीक है?'' बच्चे खड़े हो कर कुछ बुदबुदाए जिसका मतलब शायद ''ठीक है'' जैसा ही कुछ था। इसके बाद प्राचार्य व अध्यापक दोनों ही कक्षा से बाहर चले गए। मैंने बच्चों से बैठने के लिए कहा। वह 25 गुना 20 वर्गफुट का कमरा था जिसमें करीब 60 बच्चे बैठे थे, उनमें करीब 20 लड़कियां और 40 लड़के थे। लड़कियां एक साथ बैठी थीं।

मैं : *मेरा नाम रोहित है। मैं पहली से बारहवीं तक के बच्चों को पढ़ाता रहा हूं। आजकल विश्वविद्यालय में पढ़ाता हूं। आप लोग बारहवीं में पढ़ते हैं?*

कुछ बच्चे: *हां।*

मैं : *आप में से कुछ तो बारहवीं के लिए बहुत छोटे लग रहे हैं। हमारे जमाने में बारहवीं में कुछ बड़े बच्चे होते थे। आप लोग कुछ जल्दी तो नहीं आ गए इस कक्षा में?*

कई बच्चे : *नहीं।* (अपनी बात पर जोर देकर मुस्कराते हुए)

मैं : *तुम में से कुछ को बारहवीं में जल्दी आने से कोई परेशानी तो नहीं हुई?*

कई बच्चे : *नहीं।* (एक बार फिर मुस्कान के साथ व अपनी बात पर जोर देते हुए)

मैं : *अच्छा, क्या-क्या पढ़ते हो, स्कूल में?*

कई बच्चे : *राजनीति, इतिहास, भूगाल, हिंदी, अंग्रेजी।*

मैं : *राजनीति? राजनीति में क्या?*

बच्चे : *राजनीति (एक आवाज : राजनीति शास्त्र)*

मैं : *अच्छा, पॉलिटिकल साइंस?*

बच्चे : *हां।*

मैं : *ठीक है। बताओ, तुममें से किसी ने कोई किताब पढ़ी है, पिछले दो साल में, जो तुम्हारें कोर्स में नहीं हो।* (मुझे इस बात को दोहराना पड़ा)

(आगे की पंक्ति में से सिर्फ एक लड़के ने अपना हाथ खड़ा किया।)

मैं : *किताब का नाम बता सकते हो?*

(बच्चा खड़ा हो गया)

मैं : *बैठे-बैठे ही बता सकते हो।*

बच्चा : (बैठ कर) *प्रेरणादायक चर्चाएं।*

मैं : *ओह, किसने लिखी है?*

बच्चा : *स्वामी विवेकानंद।*

(मैंने यह किताब नहीं पढ़ी थी और इसके बारे में कुछ नहीं जानता था। बाद में इंटरनेट पर खोजने पर मुझे विवेकानंद की चर्चाओं की एक किताब मिली, जिसका नाम ''इंस्पायर्ड टॉक'' था। हो सकता है कि मैंने बच्चे द्वारा कही गई बात को गलत सुन लिया हो या फिर उसे गलत नाम याद रह गया हो।)

मैं : (कक्षा से) *अच्छा प्रेरणादायक माने क्या? प्रेरणा क्या होती है?*

कुछ बच्चे : (कुछ शब्द आए) *अभिप्रेरणा, उत्साहित करना, प्रेरणा*

मैं : *अच्छा, ठीक है, उत्साहित करना और प्रेरणा मान लेते हैं।*

मैं : (जिस बच्चे ने यह किताब पढ़ी थी, उससे पूछा) *ये किताब अंग्रेजी में है?*

बच्चा : *अंग्रेजी में भी और हिंदी में भी।*

मैं : *तुमने कौनसी भाषा में पढ़ी?*

बच्चा : *दोनों में।*

मैं : (हैरत भरी आवाज में, लेकिन इस बात को बिना जाहिर किए कि मुझे उसकी बात में भरोसा नहीं हो रहा) *ओह, दोनों में? पहले कौनसी भाषा में पढ़ी?*

बच्चा : *हिंदी में।*

मैं : *अरे, हिंदी में पढ़ ली तो फिर अंग्रेजी में क्यों?*

बच्चा : *अच्छी लगी, इसलिए।*

मैं : *अच्छा तो उस किताब में क्या लिखा है? कुछ बता सकते हो?*

बच्चा : *अपनी संस्कृति और राष्ट्र-धर्म का सम्मान करना चाहिए।*

मैं : (मुझे वह मौका मिल गया, जिसकी मुझे तलाश थी। मैं ''संस्कृति'' और ''राष्ट्र-धर्म'' को साफ-साफ व बड़े अक्षरों में बोर्ड पर लिखना चाहता था। मैंने वहां पर चॉक खोजी, वह मुझे नहीं मिली।) *अच्छा, चॉक तो है ही नहीं, मैं दो चीजें बोर्ड पर लिखना चाहता था।*

एक बच्चा : *मैं ऑफिस से ले आता हूं।*

मैं : *ठीक है, दो ही लाना।*

मैं : (सभी बच्चों से) *अच्छा ये राष्ट्र-धर्म क्या चीज होती है? जिसने किताब का नाम बताया, उसकी ही अकेले बताने की जिम्मेदारी नहीं है। कोई भी बता सकता है। राष्ट्र-धर्म क्या होता है?*

(जवाब आने शुरू हो गए... अब तक चॉक लेने गया बच्चा दो बढ़िया किस्म की चॉक लेकर आ गया। मैंने बोर्ड बोर्ड पर लिखना शुरू कर दिया। चॉक और बोर्ड दोनों ही चीजें बेहतरीन थीं, इसलिए मैंने बोर्ड पर आसानी से व साफ साफ लिखा। मैंने बोर्ड पर ''राष्ट्र-धर्म'' लिखा, उसके नीचे लकीर खींची और एक बार फिर पूछा, ''ये राष्ट्र-धर्म क्या होता है?'')

बच्चे : (कई आवाजें)

❑ *राष्ट्र का सम्मान करना*

❑ *राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य पूरे करना*

❑ *राष्ट्र में समन्वय बनाना*

❑ *जरूरतमंदों की मदद करना*

❑ *राष्ट्र ध्वज और राष्ट्र का सम्मान करना*

❑ *राष्ट्र की संपत्ति की रक्षा करना*

❑ *एकता की रक्षा करना*

मैं : *वाह, काफी हैं। अच्छा, यह और बताओ कि ये ''राष्ट्र'' क्या होता है।*

बच्चे : (सन्नाटा)

मैं : *राष्ट्र क्या होता है? जमीन, नदी-नाले? पहाड़?*

बच्चे : (कई) *हां, जमीन, देश।*

मैं : *ठीक है, मान लो हम सारे हिंदुस्तानियों को किसी तरह चांद पर ले जाएं। कुछ मुश्किल तो होगा, पर सब को ले जाएं, एक भी बाकी नहीं बचे। तो भी भारत देश यहीं रह जाएगा क्या?*

बच्चे : (कुछ आवाजें) *हां।* (बहुमत) *नहीं।*

मैं : *बढ़िया। तो राष्ट्र लोगों के बिना नहीं होता। लोग तो उसके जरूरी हिस्सा हैं ही।*

बच्चा : *राष्ट्र नागरिकों से बनता है।*

मैं : *ठीक। तो राष्ट्र के प्रति कर्तव्य का मतलब उसके नागरिकों के प्रति कर्तव्य? राष्ट्र का सम्मान मतलब उसके नागरिकों का सम्मान? राष्ट्र की एकता माने उसके नागरिकों की एकता? मैं ठीक कह रहा हूं क्या?*

बच्चे : (कई आवाजें) *हां।*

मैं : *ठीक है। तो थोड़ा ये और बताओ कि राष्ट्र के प्रति कर्तव्य क्या-क्या हैं, हमारे?*

बच्चे : (कई)

❑ *राष्ट्र-ध्वज का सम्मान।*

❑ *सबसे समानता का व्यवहार।*

❑ *भेदभाव नहीं करना।*

❑ *समन्वय बनाना ...*

मैं : *ठीक है। तुमने मूल कर्तव्यों के बारे में सुना है क्या? बुनियादी कर्तव्यों के बारे में?*

बच्चे : (बहुत कम) *हां,* (ऊपर वाली बातें दोहराने लगे)

मैं : *ठीक है। एक और कर्तव्य है : वैज्ञानिक चिंतन का विकास और वैज्ञानिक तरीके से जांच करना। ये सुना है क्या?*

बच्चे : (सन्नाटा)

मैं : *ठीक है। चलो तो मान लेते हैं कि राष्ट्र-धर्म का सम्मान करने का मतलब है:*

☐ *राष्ट्र के लोगों का सम्मान*

☐ *लोगों में समन्वय बनाना*

☐ *सब को समान समझना*

☐ *भेदभाव नहीं करना*

☐ *जरूरत हो तो मदद करना*

बच्चे : (कई) *हां।*

(अब मैंने बोर्ड पर ''संस्कृति'' लिखा।)

मैं : *अच्छा, इन्होंने बताया था कि प्रेरणादायक चर्चाओं में स्वामी विवेकानंद अपनी संस्कृति के सम्मान की भी सीख देते हैं। यह ''संस्कृति'' क्या होती है?*

बच्चे : (कई आवाजें)

☐ *भाषा*

☐ *साहित्य*

☐ *खान-पान*

☐ *वेश-भूषा*

☐ *रीति-रिवाज*

☐ *रहन-सहन*

☐ ...

मैं : *अरे वाह, तो ये सब संस्कृति होती है। ठीक है।*

*तो बताओ हमारी संस्कृति में ये चीजें हैं क्या :*

☐ *जाति-पांति?*

☐ *छुआ-छूत?*

☐ *औरतों के कम हक?*

बच्चे : (कई) *हां हैं।*

मैं : *और विवेकानंद कहते हैं कि हमें अपनी संस्कृति का सम्मान करना चाहिए। तो मतलब यह है कि हमें जाति-पांति, छुआ-छूत और औरतों को कम मानना चाहिए, अपनी संस्कृति का सम्मान करने के लिए?*

बच्चे : (सन्नाटा)

मैं : *और विवेकानंद जी यह भी कहते हैं कि राष्ट्र-धर्म का सम्मान करना चाहिए। राष्ट्र-धर्म का सम्मान माने उसके नागरिकों का सम्मान, उनको बराबर मानना, भेदभाव न करना, यही आप लोगों ने बताया। तो दोनों चीजें कैसे करें? छुआ-छूत, जाति-पांति, औरतों को कम भी मानें और उनको बराबर भी मानें, भेदभाव न करें? ये तो विवेकानंद जी से पूछना पड़ेगा? क्या करें?*

बच्चे : (कुछ देर सन्नाटा। तब एक आवाज आई...) *संस्कृति समय के साथ बदलती है।*

मैं : *अच्छा, सब मानते हैं क्या कि संस्कृति समय के साथ बदलती है?*

बच्चे : (कई आवाजें) *हां, बदलती है।*

मैं : *ठीक है, तो राष्ट्र-धर्म का सम्मान करने के लिए संस्कृति से जाति-पांति, छुआ-छूत और औरतों को कम हक की बातें हटानी पड़ेंगी। ये ठीक है?*

बच्चे : (कई आवाजें) *हां।*

मैं : *तो मान लें कि राष्ट्र-धर्म और संस्कृति में विरोध हो, टकराव हो, तो संस्कृति को राष्ट्र-धर्म के अनुसार बदल लेना चाहिए?*

बच्चे : (कई) *हां।*

मैं : *तुम सब मानते हो क्या यह? सब संस्कृति को राष्ट्र-धर्म के अनुसार बदलने को तैयार हो क्या? छुआ-छूत नहीं मानते? औरतों को बराबर मानते हो? सब का बराबर सम्मान करते हो?*

बच्चे : (करीब-करीब सभी) *हां।*

मैं : (मुस्कुराते हुए) *तुम स्पीडोमीटर जानते हो? जो मोटरसाइकिल और गाड़ियों में लगा रहता है।*

बच्चे : (हैरत के साथ) *हां।*

मैं : *उसमें स्पीड बढ़ाते हैं तो सुई घूमती है ना?* (मैंने अपनी उंगली को घुमा कर दिखाया और फिर उसे बोर्ड पर बनाया।)

बच्चे : *हां।*

मैं : (मुस्कान के साथ) *मेरे दिमाग में एक 'झूठो-मीटर' यानी झूठ का मीटर लगा हुआ है। उसकी सुई झूठ बोलने पर ऐसे ही घूमती है। जब तुम सब ने सब को समान मानने की बात कही, सब के रीति-रिवाजों को सम्मान देने की बात कही और कहा कि तुम ऐसा करने को तैयार हो तो वह सुई बहुत घूम गई।*

बच्चे : (दबी हुई हंसी, मुस्कान के साथ कुछ बोले) *नहीं।*

मैं : *सुई तो घूमी। मेरा झूठो-मीटर गलत है या आप लोगों की बात?*

बच्चे : (कइयों की जोरदार हंसी) *आप का झूठो-मीटर गलत है।*

मैं : *ठीक है। मान लेते हैं।*

मैं : (कुछ पल सोचने व कुछ वक्त कक्षा में इधर-उधर टहलने के बाद) *ठीक है। मान लो कि मैं अपने घर में एक पार्टी देना चाहता हूं और उसमें कुछ दोस्तों को बुलाता हूं। मैं पार्टी में बीफ परोसना चाहता हूं। तुम बीफ जानते हो क्या? क्या होती है, बीफ?*

एक बच्चा: *हां।*

दूसरा बच्चा: *गौ-मांस।*

मैं : *हां तो मैं गौ-मांस भी परोसना चाहता हूं। कुछ लोगों को पता चल गया। वे मुझे मारने आ रहे हैं। तुम लोगों को भी पता चल गया। तुम क्या करोगे?*

बच्चे : (सन्नाटा) (एक धीमी व आधे मजाक में आई आवाज) *मारेंगे।* (समवेत हंसी)

मैं : (मुस्कुरा कर) *बताओ, तुम क्या करोगे? लगता है, एक ने तो सच बोला है।*

बच्चे : (सन्नाटा।)

मैं : *तुम मुझे ये गौ-मांस वाली पार्टी करने दोगे या नहीं।*

बच्चे : (बहुमत) *नहीं।*

मैं : *क्यों? तुम तो राजनीति विज्ञान के विद्यार्थी हो, तुमने नागरिकों के मूल अधिकारों के बारे में पढ़ा ही होगा। भारत के सब नागरिकों को अपने खान-पान, रीति-रिवाज और विश्वास की आजादी का मूल अधिकार है। तुम मेरा मूल अधिकार क्यों छीनना चाहते हो?*

बच्चा : *किसी धर्म में नहीं लिखा कि गौ-मांस खाना चाहिए।*

मैं जानता था कि कुरान इसकी सिफारिश करती है : ''और याद रखना जब मोजेज ने अपने लोगों से कहा : 'अल्लाह आपको गाय को मारने का आदेश देते हैं' उन्होंने कहा, 'दोस्त दॉउ मेक ए जेस्ट ऑफ अस?'' उसने कहा,' मैं अज्ञानियों में से एक होने की वजह से अल्लाह की शरण लेता हूं'। (2 : 68, पवित्र कुरान, मौलवी शेर अली द्वारा अनुदित, इस्लाम इंटरनेशनल पब्लिकेशन लिमिटेड, 2004)। लेकिन मैं यह बात समझाना चाहता था कि इस तरह की दलील कबूल नहीं की जा सकती, इसलिए मैंने क्या लिखा है और क्या नहीं लिखा है, इस पर बात करने के बजाय दूसरा रास्ता अख्तियार किया।

मैं : *किसी धर्म में तो ये भी नहीं लिखा कि मूंग की दाल खानी चाहिए। तो क्या ये भी न खाने दें?*

बच्चे : (सन्नाटा)

मैं : *सवाल ये नहीं है कि किसी धर्म में लिखा है या नहीं। सवाल यह है कि कुछ लोग खाना चाहते हैं। तो समानता और स्वतंत्रता के नाते उन को हक है या नहीं?*

दूसरे बच्चे : *गौ-वध की कानून में मनाही है। तो आप गैर-कानूनी काम कर रहे हैं।*

यहां पर मेरे सामने दो रास्ते : थे : या तो मैं यह बात करता कि अगर यह कानून के खिलाफ है तो भी कानून की पालना करवाने का जिम्मा किसका है? भीड़ का या राज्य/पुलिस का? अगर आपको लगता है कि यह काम गैर-कानूनी है तो आप पुलिस में शिकायत करिए, मुझ पर हमला क्यों करते हैं? लेकिन फिर से मैंने दूसरा रास्ता चुना।

मैं : *गौ-वध अधिकतर राज्यों में मना है, लेकिन सब राज्यों में नहीं। जैसे राजस्थान में मना है पर मिजोरम में नहीं। और मैं ''गौ-वध'' नहीं कर रहा, गौ-मांस खाना कहीं भी मना या गैर-कानूनी नहीं है। राजस्थान में भी मना नहीं है। तो मान लो मैं गौ-मांस मिजोरम से लाया हूं या अमेरिका से लाया हूं, सिर्फ पार्टी यहां दे रहा हूं। गौ-वध यहां नहीं कर रहा।*

बच्चे : (कसमसाहट, लेकिन सन्नाटा) (एक आवाज) *आप किसी की धार्मिक भावनाओं को आहत नहीं कर सकते।*

मैं : *मैं अपने घर में पार्टी दे रहा हूं। किसी को खाना खाने के लिए नहीं कह रहा, किसी के घर नहीं जा रहा। भावनाएं कैसे आहत हुईं। मैं कुछ खाना खाता हूं या नहीं खाता हूं, इससे?*

एक बच्चाः *आप लोगों को न्यौता दे रहे हैं।*

मैं : *उनको बुला रहा हूं, जो खाते हैं या मैं समझता हूं कि खाते हैं। नहीं आना चाहते मेरी पार्टी में, तो मना कर दो। मारते क्यों हो? मुझे रोकते क्यों हो?*

बच्चे : (फिर चुप)

इस पूरी बात में काफी वक्त लग गया था, इसलिए इस बात को समेकित करते हुए मैंने आगे की बात कही।

मैं : *अभी भारत में एक बड़ी रस्सा-कस्सी चल रही है। एक तरफ कुछ लोगों के विचार से हिंदू संस्कृति है, एक तरफ कुछ और लोगों के विचार से मुस्लिम पर्सनल लॉ है और एक तरफ भारतीय संविधान है, जिसे आज तुम लोगों ने राष्ट्र-धर्म कहा है। ये रस्सा-कस्सी हम लोगों ने शुरू की है यानी हम लोगों की पीढ़ी वालों ने। दस बरसों में तुम सब बड़े हो जाओगे, कई महत्वपूर्ण निर्णय कर रहे होगे। दस बरस में ये रस्सा-कस्सी खत्म नहीं होगी। तुम लोगों को इसके नतीजे भुगतने पड़ेंगे। इस तिकड़ी पर सोचना।*

*मैंने बोर्ड पर एक तिकोन बनाया, जिसके एक कोने पर ''कथित हिंदू संस्कृति'', दूसरे कोने पर ''कथित मुस्लिम पर्सनल लॉ'' और तीसरे कोने पर ''राष्ट्र-धर्म/संविधान'' को रखा।*

मैं : *अच्छा मैंने बहुत सवाल पूछ लिए। अब तुम कुछ पूछना चाहते हो?*

एक बच्चाः *आप कहां रहते हैं?*

मैं : *महीने में एक सप्ताह जयपुर और तीन सप्ताह बेंगलुरू।*

दूसरा बच्चाः *मौसम जयपुर का अच्छा है या बैंगलुरू का?*

मैं : *लोग कहते हैं कि बेंगलुरू का अच्छा है, वहां सर्दी-गर्मी का कष्ट नहीं होता, मौसम कुछ बीच का सा रहता है। पर मैं तो राजस्थानी हूं। मुझे तो वहां की सर्दी-गर्मी की भी याद आती है।*

दूसरा बच्चा : *आप क्या पढ़ाते हैं?*

मैं : *मैंने प्राथमिक और उच्च प्राथमिक विद्यालयों में सभी विषय पढ़ाए हैं। पर आजकल विश्वविद्यालय में शिक्षा-दर्शन पढ़ाता हूं।*

दूसरा बच्चा: *हां, मुझे कुछ ऐसा ही लगा था?*

मैं : *मतलब? क्या लगा था?*

बच्चे : *कि ऐसी बातें दार्शनिक ही करते हैं।*

मैं : (मुस्कान के साथ) *मतलब फालतू बातें दार्शनिक ही करते हैं?*

बच्चे : (सभी के चेहरों पर मुस्कान) (वही बच्चे) *नहीं, इतने सारे सवाल।*

मैं : (मुस्कुराते हुए) *अच्छा, अभी मुझे जाना है। तुम लोगों ने शुरू में सोचा होगा कि चलो आज पढ़ाई से छुट्टी मिली, कुछ देर तक, वो भी अब बोर हो गए होंगे।*

बच्चे : (मुस्कुराते हुए, कुछ की दबी हंसी के साथ) (कई आवाजें) *नहीं, बोर नहीं हुए।*

मैं : *नमस्ते! धन्यवाद!*

बच्चे : (खड़े हो कर) (कई आवाजें) *धन्यवाद!*

इस संवाद ने मेरे मन में कई सवाल खड़े कर दिए। ऐसा लगा कि बच्चे बराबरी, न्याय, सभी के लिए सम्मान आदि की संवैधानिक भावना को आम तौर पर समझते हैं। उनको इस बात का भी अंदाजा है कि संस्कृति को आलोचनात्मक नजरिए से देखने व उसमें बदलाव करने की जरूरत होती है। और जब संविधान और तथाकथित संस्कृति में टकराव होता है तो संस्कृति के गैर-सवैधानिक हिस्से को उससे अलग करना पड़ता है। लेकिन जब भी ऐसा कोई खास विश्वास या मुद्दा उनके सामने आता है, जो उनकी जिंदगी से सीधा-सीधा जुड़ा हुआ हो तो संविधान में उनका विश्वास थोड़ा कमजोर पड़ जाता है और वे बराबरी, न्याय आदि, संवैधानिक मूल्यों की व्याख्या अपनी विश्वास प्रणाली के हिसाब से करना चाहते हैं। इस समस्या का समाधान सिर्फ किताबें पढ़ कर नहीं किया जा सकता है। इसके लिए एक चीज यह की जा सकती है कि ऊपर बताए तरीके से संवाद या बातचीत की जाए।

लेकिन ऐसे संवाद किसको करने चाहिए? कहां? कब? अगर यह माना जाए कि अध्यापक इस तरह के संवाद करेंगे तो उन्हें किस तरह की तैयारी करने की जरूरत पड़ेगी? ◆

**लेखक परिचय :** अजीम प्रेमजी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर एवं अकादमिक विकास के निदेशक हैं और दिगन्तर, जयपुर के संस्थापक सदस्य व सचिव हैं।

**संपर्क :** rohit.dhankar@apu.edu.in

# अपने आस-पास के पक्षियों का अध्ययन

**कालू राम शर्मा**

अरे, ये रही चिड़िया! ये तो उड़ गई! हां, एकदम पर्पल कलर की है! छोटी-सी, मगर बहुत-ही चपल...। लंबी चोंच, और एक से दूसरी डाली पर जोरदार सुरीली-सी आवाज लगाते हुए फुदकती जा रही है। वो रही काली-सी, बडी-सी चिड़िया। अरे, ये क्या इसके पीछे तो कौए पड़े हुए हैं। उसके पीछे एक चितकबरी चिड़िया! एक के बाद एक ऐसे दृश्य बनते जा रहे हैं। हर कोई चिड़िया का बिना उसे परेशान किए, चुपके-चुपके पीछा कर रहा है। कोशिश यही कि चिड़िया को तसल्ली से, जी भर कर देखा जाए। इसके पहले पक्षियों की चहचहाट तो सुनी, देखे भी, मगर इस नजरिए से नहीं कि उनके बारे में कुछ जाने, समझें।

प्रसंग है ''हमारे आस-पास के पक्षियों के अध्ययन'' का। पश्चिमी निमाड़ (मध्य प्रदेश) के खरगोन जिले के एक कस्बे, कसरावद में तयशुदा वक्त पर अलसुबह शिक्षिकाएं व शिक्षक एकत्र हो चुके हैं। यहां से कुछ ही देर में दल आगे की ओर बढ़ चला और सीधे पहुंच गया नर्मदा के किनारे नावड़ाटोड़ी घाट पर। नावड़ाटोड़ी, नर्मदा के किनारे एक ऐतिहासिक स्थान है जहां सरकारी स्कूल के शिक्षक ग्रीष्मकालीन अवकाश के दौरान पक्षियों का अध्ययन कर रहे हैं। पांच दिवसीय ओपन कोर्स का आयोजन अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन द्वारा किया गया। इस कोर्स के लिए स्थान विकास खंड संसाधन केंद्र (बीआरसी) द्वारा उपलब्ध करवाया गया।

ओपन कोर्स के लिए शिक्षकों की भागीदारी पूर्णरूपेण स्वैच्छिक रखी गई थी। कसरावद में निवासरत शिक्षकों को ब्रोशर और रूबरू मिलकर बताया गया कि ''हमारे आस-पास के पक्षी'' शीर्षक से एक ओपन कोर्स का आयोजन किया जा रहा है। इच्छुक शिक्षक-शिक्षिकाओं द्वारा इस कोर्स के लिए अपने नाम प्रस्तावित किए गए। कुल मिलाकर इस कोर्स के लिए 25 शिक्षक-शिक्षिकाओं द्वारा नामांकन आए।

उल्लेखनीय है कि स्कूली शिक्षा में प्राथमिक कक्षाओं में पर्यावरण अध्ययन में और माध्यमिक कक्षाओं मे विज्ञान में पक्षियों का आकार, हमारे आस-पास के पक्षी, रंग-रूप, आकार-प्रकार, पक्षियों में प्रवास इत्यादि शामिल किया गया है। इस लिहाज़ से एक शिक्षक को पक्षियों के बारे में समझ रखनी चाहिए ताकि वह अपनी कक्षाओं में पक्षियों को लेकर सार्थक विमर्श करवा सके। हम कहते हैं कि शिक्षा को हमारे संदर्भ से जोड़ना चाहिए, शिक्षा को अपने परिवेश से जोड़ना चाहिए। इस लिहाज़ से देखा जाए तो पक्षियों को लेकर शिक्षकों की तैयारी मायने रखती है।

तैयारी के पहले चरण में प्राथमिक व माध्यमिक कक्षाओं की पर्यावरण अध्ययन व विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों को खंगाला कि किन-किन पक्षियों का जिक्र किया गया है। पाठ्यक्रम में पक्षी संबंधी अवधारणाओं की एक सूची बनाई गई। कक्षा चौथी की पर्यावरण अध्ययन की पुस्तक में एक अध्याय तो पूरा ही पक्षियों पर केंद्रित है। गीजू भाई ने भारत की आज़ादी के पूर्व बच्चों को अपने आस-पास के पक्षियों को लेकर एक पत्र लिखा था। इस पत्र को ही पाठ्यपुस्तक का एक अध्याय बनाया गया है।

## पहला दिन : हमारे आस-पास के पक्षी

पक्षियों का अवलोकन करते शिक्षक-शिक्षिकाएं

शिक्षकों के साथ ओपन कोर्स के पहले दिन शिक्षकों के अनुभवों को सुना गया। इस बात को एनसीएफ-2005 बड़ी शिद्दत से रखता है कि कक्षाओं में अनुभवों को स्थान मिलना चाहिए। यही बात शिक्षकों की कक्षाओं पर भी लागू होती है। इस सत्र का स्वरूप कुछ इस प्रकार से रखा था कि हमारे आस-पास के पक्षियों के चित्रों का प्रस्तुतीकरण शिक्षकों के सामने किया। लगभग दो दर्जन पक्षियों के चित्रों का प्रदर्शन करने के दौरान यह पाया कि शिक्षक उन पक्षियों के बारे में कुछ न कुछ जरूर जानते हैं। अधिकांश पक्षियों के नाम शिक्षक साथियों को पता नहीं थे मगर उनकी नजर उन पर जरूर पड़ी थी। पक्षियों को लेकर लोकमान्यताओं के बारे में शिक्षकों ने काफी कुछ सुन रखा था। जब एक-एक करके पक्षी का जिक्र आता तो वहां शिक्षक अपनी बात रखते। यह एक ऐसा सत्र था जहां हर शिक्षक कुछ न कुछ कहना चाह रहा था। टिटहरी को लेकर उनके अवलोकन हैं कि यह पेड़ों पर नहीं बैठती। टिटहरी के अंडों से भी शिक्षक रूबरू थे। कई दफे रात में टिटहरी की आवाज़ को सुना हुआ था। उनका अनुभव है कि जब कोई खतरा होता है तो ये जोर से आवाज़ निकालते हुए आकाश में चक्कर लगाती हैं।

मैना को स्थानीय भाषा में 'काबर' कहा जाता है। यह शहरों में होटलों और बस स्टेशनों के आस-पास रहने की भी अभ्यस्त हो चुकी है। ये अक्सर झुंड में दिखाई देती है। शिक्षकों ने बताया कि हमारे यहां पर ब्राम्हणी मैना और पाईड मैना भी पाई जाती है।

कौओं को लेकर भ्रम है कि जो एकदम काले रंग का होता है वह मादा और जिसकी गर्दन राख रंग लिए होती है वह नर होता है। दरअसल, ये दो अलग-अलग प्रजातियां हैं। जो एकदम काले रंग का होता है वह जंगली कौआ है।

कोयल को लेकर शिक्षकों ने यह सुन रखा था कि सुरीली आवाज़ जो हमें सुनाई देती है वह मादा कोयल की होती है। वास्तव में अधिकांश ने कोयल को देखा भी नहीं था। अधिकांश पक्षियों में नर पक्षी की आवाज़ अधिक प्रभावशाली होती है। कोयल में नर कोयल की आवाज़ सुरीली होती है। इसी प्रकार नर पक्षी, मादा की बनिस्बत अधिक चटक-भटक वाले होते हैं। कुछ तो ऐसे हैं जो प्रजनन काल के दौरान चटक-भटक रंग-रूप धारण कर लेते हैं। मसलन नर बया पक्षी बरसात के दिनों में हल्दी के माफिक सिर पर मुकुट धारण कर लेता है और पंख भी पीले हो जाते हैं।

## दूसरा और पांचवा दिन : नावड़ाटोड़ी व बायोरे की सैर

तय कार्यक्रम के अनुसार अगले दिन सभी शिक्षक कसरावद से नावड़ाटोड़ी गए और वहां पर पक्षियों का अवलोकन किया गया। नर और मादा कोयल का अवलोकन किया जा सका। कोयल, बुलबुल, धनेश, श्यामा, प्रिनिया, फैनटेल्ड लाइकेचर, टिटहरी, पेडी बर्ड (अंधा बगुला), पशु बगुला, दहियल (मेघपाई रॉबिन), कौए, शकरखोरा इत्यादि का मई-जून में प्रजननकाल होता है। इसलिए ये पक्षी काफी सक्रिय दिखाई दिए। नर और मादा दहियल का काफी करीबी से अवलोकन किया जा सका। एक पेड़ पर शिक्षकों को उल्लू दिखाई दिया। स्पॉटेड आउलेट पेड़ की झुरमुट में छिपा हुआ था। वैसे उल्लू रात के वक्त मे सक्रिय होते हैं। दिन में ये दुबके होते हैं। पर्पल शकरखोरा द्वारा फूलों का मकरंद चूसते हुए अवलोकन किया जा सका। नलीदार फूल और पक्षी की चोंच का लंबा होना ये पेड़-पौधों व पक्षियों के बीच सह विकास का परिणाम कहा जा सकता है। अगर कुदरत में नलीदार फूल बनाए तो उनका परागण करने के लिए लंबी चोंच वाले पक्षी भी मौजूद हैं।

अगले दिन कुछ पक्षियों को और बारीकी से अवलोकन करने का अवसर मिला। जब बायोरे में हम पक्षी अवलोकन के लिए पहुंचे तो शिक्षक साथी नावड़ाटोड़ी के पक्षियों के अवलोकन के अनुभव से लैस थे। अधिकांश शिक्षक उन पक्षियों को पहचान पा रहे थे जो उन्होंने नावड़ाटोड़ी में देखे थे। यहां कुछ पक्षियों को और नजदीकी से अवलोकन करने का अवसर मिला। जैसे कि बुलबुल का करीबी से हम अवलोकन कर पाए। इस क्षेत्र में जो बुलबुल पाई जाती है वह रेंड वेंटेड बुलबुल है। इसके टोकनीनुमा घोंसले का अवलोकन कर सके। अधिकांश शिक्षकों ने बुलबुल का घोंसला अपने आस-पास देखा था। मगर उन्हें यह पता नहीं था कि यह बुलबुल का घोंसला है।

## तीसरा दिन : पक्षियों का उद्भव व उड़ने का अनुकुलन

तीसरे दिन हम सभी लोग नावड़ाटोड़ी क्षेत्र में पक्षियों के अवलोकन के अनुभव लेकर आए थे। हममें से सभी के पास अपने-अपने अवलोकन थे। अवलोकनों की चर्चा के उपरांत पक्षियों का उद्भव आखिर इस पृथ्वी पर कैसे हुआ, इस पर चर्चा को केंद्रित किया गया। दरअसल, पक्षियों का उद्भव डायनोसोर से करोड़ों वर्ष पूर्व हुआ। पहले-पहल जिस पक्षी के प्रमाण मिलते हैं वह आर्किओप्टेरिक्स है। यह सरीसृप और पक्षी के बीच एक कड़ी है। आर्किओप्टेरिक्स में उड़ने के लिए पंख है, चोंच है, पर हैं, दांत है और शल्क हैं।

पक्षियों में उड़ने की क्षमता होती है। इसलिए इनके शरीर की बनावट भी कुछ खास होती है। अन्य जंतुओं की बनिस्बत पक्षियों का शरीर हल्का-फुल्का बना रहे, इसके लिए इनके फेफड़ों में हवा की थैलियां होती है। उड़ने के लिए काफी ऊर्जा की जरूरत होती है, इसलिए इन्हें श्वसन के लिए अधिक ऑक्सीजन भी चाहिए होती है। इसलिए फेफड़ों में विस्तार दिखाई देता है।

पक्षियों का शरीर परों से ढंका होता है। पर का पाया जाना पक्षियों का एक गुण है। इसी प्रकार से चोंच का पाया जाना, दांतों की अनुपस्थिती भी पक्षियों का गुण है।

क्या पक्षी पेशाब करते हैं? एक कहावत भी है कि ''अगर कोई कह दे कि उसे चील का मूत चाहिए तो, कहां से लाकर दें''। दरअसल, पक्षी स्तनधारियों की तरह तरल पेशाब नहीं करते। स्तनधारी, पेशाब में यूरिया का उत्सर्जन करते हैं। जबकि पक्षी यूरिक अम्ल का स्राव करते हैं। पक्षी पेशाब करते हैं मगर यूरिक अम्ल के रूप में। अगर पक्षी की बीट याने कि उत्सर्जी पदार्थ का अवलोकन किया जाए तो वह दो रंग लिए होता है। कुछ सफेद-मटमेला सा। इसमें सफेद रंग वाली पेशाब होती है जो कि यूरिक अम्ल के रूप में होती है।

एक बात और कि पक्षियों में स्तनधारियों की तरह गुदाद्वार व पेशाब का द्वार अलग-अलग नहीं होते। इनमें 'क्लोएका' होता है। क्लोएका एक द्वार है जहां से पेशाब, मल और इतना ही नहीं मादा पक्षियों में अंडे भी इसी द्वार से बाहर आते हैं।

पक्षियों की हड्डियां स्तनधारियों की बनिस्बत हल्की होती है। यह भी उड़ने के लिए एक अनुकूलन है।

एक शिक्षक ने सवाल किया कि पक्षी अंडे देते हैं और इनका खोल कैल्शियम कार्बोनेट का बना होता है। अंडों के लिए कैल्शियम कार्बोनेट की पूर्ति कैसे होती होगी? यह दिलचस्प सवाल है। अंडों की पूर्ति के लिए आवश्यक कैल्शियम कार्बोनेट का जरिया तो भोजन ही कहा जा सकता है। पक्षी दाना चुगते हुए कंकड़ भी खा लेते हैं। कंकड़ों का एक काम गिजार्ड में भोजन को बारीक पीसने में सहायक होना है। मुर्गी पालन केंद्रों में मुर्गियों को भोजन में कैल्शियम की खुराक दी जाती है।

यहां यह भी सवाल उठा कि क्या मुर्गी पालन केंद्रों में जो अंडे मुर्गी देती है उससे चूजे पैदा होते हैं? इसका जवाब यही है कि दरअसल, संकर मुर्गियों की नस्लें कुछ इस तरह से तैयार की गई हैं कि वे अधिक से अधिक अंडे दें। इसलिए इस प्रकार की नस्ल तैयार की गई कि बिना मुर्गे से मेल कराए ही मुर्गियां अंडे देती है। ये अंडे अनिशेचित (अनफर्टिलाइज्ड) होते हैं। इनसे चूजे नहीं बनेंगे। जब मुर्गी पालन केंद्र वालों को चूजे चाहिए होते हैं तो वे मुर्गियों के बीच मुर्गे छोड़ते हैं। इस तरह से मुर्गी और मुर्गे के मेल से निशेचित अंडों से चूजे तैयार किए जा सकते हैं।

## चौथा दिन : पक्षियों में प्रवास

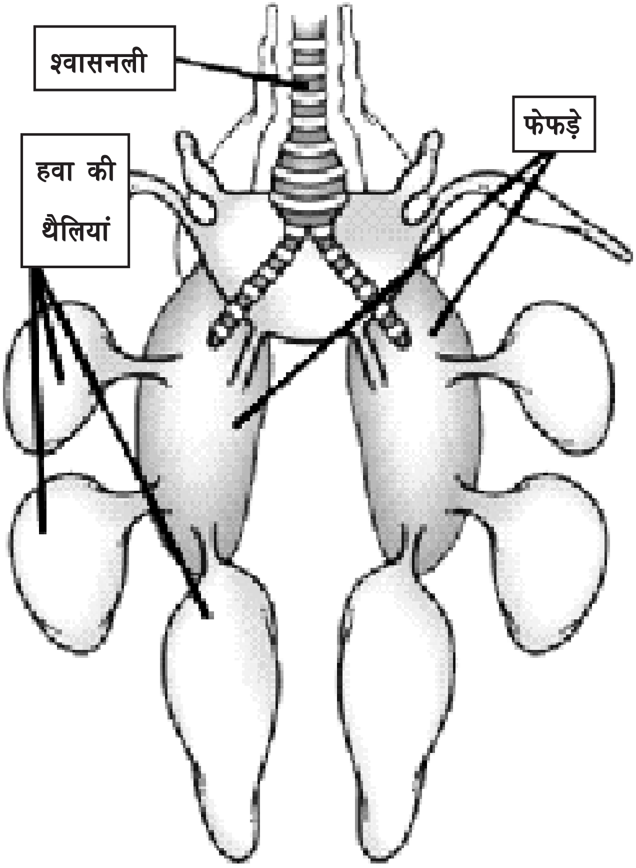

आज हमने पक्षियों में प्रवास पर विस्तार से चर्चा की। प्रवास क्या है इसे एक उदाहरण के जरिए समझने की कोशिश की गई।

पक्षियों में प्रवास एक गति है जो प्रजनन स्थल और अप्रजनन स्थल के बीच होती है। इस गति की तुलना एक सरल लोलक से की जा सकती है।

असल में प्रवास याने कि माइग्रेशन एक नियमित अंतराल के दौरान प्रजनन स्थल से अप्रजनन स्थल की ओर जाना होता है।

पक्षियों में प्रवास क्यों?

अगर जंतु के लिए हालात प्रतिकुल हो जाए या भोजन की कमी हो जाए तो जीव एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं। कुदरत ने इससे बचने के लिए कुछ तरीके विकसित किए :

**अ) सुप्तावस्था :** ठंड के मौसम में कुछ जीव सुप्तावस्था में चले जाते हैं। उनकी जीवन क्रियाएं सुस्त हो जाती है। जैसे कि मेंढक।

**ब) प्रवास :** इसमें शामिल है कि जंतु एक स्थान से दूर चला जाता है। इनमें ऐसे जंतु शामिल हैं जिनके पास उड़ने या तैरने के लिए ताकतवर पंख हों। जैसे कि पक्षी और मछली।

कुछ बड़े पक्षी झूंड में प्रवास करते हैं। ऐसा करने से इनकी 12 से 20 फीसदी तक ऊर्जा की बचत होती है। कुछ पेंग्विन पानी में तैरकर हजारों किलोमीटर की यात्रा तय करते हैं।

पक्षियों की नियमित गति को ध्यान में रखते हुए पक्षियों को चार समूह में विभाजित किया जा सकता है :

**1. स्थाई निवासी :** जो एक ही स्थान पर पाए जाते हैं। जैसे कि घरेलू चिड़िया, कौआ, काबर।

**2. ग्रीष्मकालीन प्रवास :** वे प्रवासी पक्षी जो ग्रीष्मकाल में एक जगह से दूसरी जगह पर चले जाते हैं। जैसे कि पर्पल मार्टिन, जैसे कि भारत में चातक ग्रीष्मकाल के दौरान आता है।

**3. शीतकालीन प्रवास :** वे पक्षी जो उत्तर से दक्षिण की ओर आते हैं।

**4. शीतकालीन यात्री :** कुछ ऐसे पक्षी होते हैं जो उत्तर-पश्चिमी क्षेत्रों से आने वाले दक्षिण की ओर प्रायद्वीपीय भारत तथा लंका की ओर जाने वाले भोपाल से गुजरते हैं। कुछ यहां पर ही ठहर जाते हैं और ठंड के दिनों में दिखाई देते हैं। इन्हें मार्ग प्रवासी पक्षी कहना ठीक होगा।

पक्षियों में प्रवास कितना नियमित होता है इसकी मिसाल खंजन नामक पक्षी पेश करता है।

कभी-कभी तो एक दिन का भी हेर-फेर नहीं होता।

एक छल्ला लगी हुई वैगटेल (मोटेसिला कैस्पिका) के बारे में यह देखा गया है कि यह लगातार पांच सालों तक हिमालय में प्रजनन क्षेत्र से 2000 किलोमीटर का फासला तय करके मुंबई महानगर के एक ही मैदान जो कि टेनिस कोर्ट से बड़ा नहीं था में सितंबर की उसी तारीख में पहुंचती रही।

सौराष्ट्र में सितंबर के महीने में उसी तारीख में आर्फिएन बार्बलर को अगले साल भी देखा गया।

पक्षियों को प्रवास के दौरान रास्ते का पता कैसे चलता है? यह एक दिलचस्प सवाल है। दरअसल, पक्षी अपने प्रवास के दौरान सूर्य, तारों की गति से रास्ते का पता लगाते हैं। साथ ही मेग्नेटिक कंपास याने कि पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र के प्रति विशेष संवेदनशील होते हैं। हालांकि अभी भी इस पहेली का पूरी तरह से हल नहीं हो सका है। मगर पक्षियों मे यह जन्मजात क्षमता होती है।

पक्षियों में प्रवास एक दिलचस्प घटना है। हमारे आस-पास भी अनेक पक्षी प्रवास करके आते हैं। इन्हें शीतकाल में देखा जा सकता है।

जो प्रश्न शिक्षकों की ओर से आए वे काफी दिलचस्प हैं। इनमें से कुछ पर सत्र में चर्चा हो सकी।

☐ चकोर के बारे में बताइए। यह कहां पाया जाता है?
☐ सुरखाब पक्षी कैसा होता है?
☐ पपीहा के बारे में कहा जाता है कि यह स्वाति नक्षत्र का ही पानी पीता है।

दरअसल, चकोर हमारे यहां का शिकारी पक्षी माना जाता था। इसका साहित्य में काफी जिक्र मिलता है। चकोर के बारे में कहा जाता है कि यह रात में चंद्रमा की ओर निहारता रहता है। अंधेरी रात में चंद्रमा की गैरमौजूदगी में यह आग को चंद्र किरण समझकर निगलता है। हालांकि इस बात में कोई दम नहीं है। चकोर ''पाट्रिज'' समूह का पक्षी है जो मयूर वर्ग (Phasianidae) में आता है। चकोर डीलडोल में तीतर से मिलता-जुलता पक्षी है। इनका शिकार भी तीतर की ही तरह जाल बिछाकर किया जाता रहा है। ये पहाड़ों में रहते हैं। चकोर पाकिस्तान का राष्ट्रीय पक्षी है।

सुर्खाब हमारे यहां की प्रसिद्ध बतख है। तालाबों, झीलों और खारे पानी की झीलों (ब्रेकिश वाटर) के खुले तटों और आस-पास ये शीत ऋतु में आसानी से देखे जा सकते हैं। ये बड़ी नदियों के रेतीले तटों पर भी देखे जा सकते हैं। नदियों में बड़ी धारा से कटकर जो छिछली पानी की धाराएं बनती है उनमें इनके जोड़े अक्सर देखे गए हैं। ये जोड़े में रहते हैं जो इंसानों के निकट पहुंचने पर सिर उठाकर कर्कश आवाज़ पैदा करते हैं और तेजी से उड़ जाते हैं। गांव के किनारे पर तालाबों में आने वाले सुर्खाब इंसानों की चहलकदमी से उतने परेशान नहीं होते मगर जब इन्हें खतरे का अहसास होता है तो ये उड़ जाते हैं।

प्रसिद्ध पक्षी विशेषज्ञ सालिम अली द्वारा लिखित भारत के पक्षी नामक पुस्तक में ब्राह्मणी बतख को सुर्खाब कहा गया है। इसके और भी नाम मिलते हैं - चक्वा-चक्वी। अंग्रेजी में यह रूडी शेल डक कहलाती है। इसका जीव वैज्ञानिक नाम है टैर्डोना फेरूजिनिआ।

सुर्खाब प्रवासी पक्षी है जो शीतकाल के दौरान अपने मूल प्रजनन स्थल, दक्षिण पूर्वी यूरोप व मध्य एशिया से आकर भारतीय उपमहाद्वीप में फैल जाते हैं और यहां आकर शीत ऋतु बिताते हैं। गर्मियों की शुरुआत में फिर अपने प्रजनन स्थल की ओर लौट जाते हैं। यहां से लौटते हुए ये चीन, जापान और मंगोलिया और अफगानिस्तान, ईरान आदि देशों में फैल जाते हैं। इनमें से कुछ सुर्खाब कश्मीर और लद्दाख की झीलों और तालाबों में रह जाते हैं और यहीं पर प्रजनन करते हैं। अवलोकन बताते हैं कि सितंबर के अंत या अक्टूबर के आरंभ में इनका आगमन प्रारंभ हो जाता है। प्रवास करके ये कश्मीर की झीलों व नेपाल की घाटियों में पहुंच जाते हैं और फिर यहां से उत्तर भारत में अक्टूबर में तथा नवंबर में दक्षिण के प्रांतों में फैल जाते हैं।

पपीहा का जिक्र साहित्य और फिल्मी गीतों में खूब मिलता है। पपीहा के बारे में दिलचस्प बात यह है कि यह कोयल की तरह अपना घोंसला नहीं बनाता बल्कि मादा दूसरे पक्षी के घोंसले में अंडे देती है। इसका अंग्रेजी नाम है ''ब्रेन फीवर बर्ड''। यह नाम शायद इसलिए पड़ा क्योंकि यह जोर-जोर से बोलता है मानो किसी मस्तिष्क ज्वर का मरीज बोलता हो।

बुलबुल के अंडे व घोंसला

पपीहा के बारे में कहा जाता है कि यह स्वाति नक्षत्र का ही पानी पीता है। यह भी कोरी मान्यता से अधिक कुछ नहीं है। इस प्रकार का कोई विवरण नहीं मिलता जो इस बात को पुख़्ता करे।

## समापन

कोर्स के पांचवे दिन सभी शिक्षक एकत्र हुए। इस दौरान यह चर्चा भी हुई कि बच्चों को भी कक्षा से बाहर पक्षी दर्शन के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए। पाठ्यक्रम में भी पक्षियों के बारे में सीखने को है।

पक्षी दर्शन का समापन वास्तव में एक नई शुरुआत है। शिक्षकों के अनुसार ‘‘हमें पक्षियों का अवलोकन करने के लिए एक नजरिया मिला है।’’

इसी के साथ सभी ने एक दूसरे से खुशी-खुशी बिदा ली। ◆

**लेखक परिचय :** पिछले पच्चीस सालों से विज्ञान शिक्षण, पर्यावरण अध्ययन, शिक्षा और समाज के विषयों पर निरंतर लेखन। एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम में लगभग 18 वर्ष तक संलग्न रहे। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन, खरगोन (मध्यप्रदेश) में कार्यरत हैं।

**संपर्क :** 8226000428; **ईमेल :** kr.sharma@azimpremjifoundation.org

R.N.I.No.RAJHIN/1999/0359 शिक्षा विमर्श

दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर के लिए सुश्री रीना दास द्वारा
भालोटिया प्रिंटर्स, 1/398, पारीक कॉलेज रोड, जयपुर-302006 से मुद्रित
एवं दिगन्तर, खो नागोरियान रोड, जगतपुरा, जयपुर-302017 से प्रकाशित